उचित सिलाई लेता है, ठीक है; किन्तु जहाँ तीन गज कपड़ा लगता हो वहाँ बहाना बनाकर साढ़े तीन गज ले लेवे तो वह अदत्तादान है। ऐसे ही और भी समझ लेना चाहिये जैसा कि प्रायः यहाँ पर देखने में आ रहा है। कोई भी आदमी पूर्ण विश्वास के साथ में यह नहीं कह सकता कि बाजार में वह एक चीज तो ठीक मूल्य पर और सही सलामत मिल जायेगी। जीरे में गाजर का बीज, काली मिरचों में एरण्ड कक्कड़ी के बीज, घी में डालडा इत्यादि हर एक चीज में कोई न कोई तत्सदृश अल्प मूल्य की चीज का सम्मिश्रण करके देना तो साधारण बात है। और तो क्या शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए ली जाने वाली दवाओं तक में बनावटीपन होता है, जिससे कि देश की परिस्थिति दिन पर दिन भयंकर से भयंकर बनती चली जा रही है। मैंने एक किताब में पढ़ा था कि एक बार एक हिन्दुस्तानी भाई विलायत में घूम रहा था सो क्या देखता है कि एक बहिन जिसके आगे दूध का बर्तन रखा हुआ है, फिकर में खड़ी है, अतः उसने पूछा कि बहिन तुम क्या सोच रही हो ? उसने कहा भाई साहेब ! मैंने एक महाशय को ५ सेर दूध देना कह दिया है, और मेरी गाय ने आज जो दूध दिया वह पाव कम पाँच सेर है, अतः मैं सोच रही हूँ कि क्या करूँ ? इसे पूरा कैसे किया जा सकता है ? इस पर उसी हिन्दुस्तानी भाई ने तपाक से कहा कि वाह यह भी कोई फिकर की बात है क्या ? इसका उपाय तो बहुत आसान है, इसमें भले ही तुम पाव भर दूध और भी निकाल लो तथा इसमें आध सेर पानी मिलाकर दे आओ। उसने तो शाबाशी पाने के लिए ऐसा कहा था मगर उस बहिन ने कहा,छी ! छी ! यह तो बहुत बुरी बात है, ऐसा करने से हमारे देश के बाल बच्चे पोषण कैसे पा सकेंगे ? खैर ! कहने का मतलब यह है कि मिलावटबाजी ने बहुत तरक्की पाई है, जिससे हमारे देश का भारी नुकसान हो रहा है। सरसों के तेल में सियालकांटी का तेल मिलाकर दिया जाता है जिसको उपयोग में लाने वाले, उसको शरीर पर लगाने वालों के शरीर में फोड़े फुन्सी हो जाते हैं, परन्तु देने वाले को इसकी कोई चिन्ता नहीं, उसे तो सिर्फ पैसा प्राप्त कर लेने की सूझती है। आज पैसा परमेश्वर बन रहा है किन्तु मनुष्य मनुष्य भी नहीं रहा, कैसी दयनीय दशा है, कहा नहीं जाता। मैं सोच ही रहा था कि एक आदमी बोला महाराज क्या आश्चर्य है ? मिलावट में तो थोड़ी बहुत चीज रहती है। यहाँ तो चाय के बदले सर्वेसर्वा चनों के छिलके होते हैं और लेने वाले को पता भी नहीं पड़ता, हद हो गई !

(४८) आज कल के लोगों का दृष्टिकोण

भूतल पर दो चीजें मुख्य हैं, शरीर और आत्मा। शरीर नश्वर और जड़ है तो आत्मा शाश्वत और चेतन। इन दोनों का समायोग विशेष मानव-जीवन है। अतः शरीर को

पोषण देने के लिए धन की जरूरत होती है तो आत्मा के लिए धर्म की, एवं साधक दशा में मनुष्य के लिए यद्यपि दोनों ही अपेक्षणीय हैं फिर भी हमारे बुजुर्गों की निगाह में धर्म का प्रथम स्थान था। हाँ, उसके सहायक साधन रूप में धन को भी स्वीकार किया जाता है। परन्तु जहाँ पर वह धन या उसके अर्जन करने की तरकीब यदि धर्म की घातक हुई तो उस ऐसे धन को लात मारकर धर्म का संरक्षण किया करते थे, किन्तु आज के लोगों का दृष्टिकोण सर्वथा इसके विपरीत है। आज तो धर्म को ढकोसला कहकर धन को ही सब कुछ समझा जाता है। येन केन रूपेण पैसा बटोरने का ही लक्ष्य रह गया है। कहीं कोई बिरला ही मिलेगा जो कि अपनी मेहनत की कमाई पर गुजर बसर कर रहा हो, प्रायः प्रत्येक का यही विचार रहता है कि कहीं से लूट खसोंट का माल हाथ लग जाये। कहीं पाकेटमारी का हल्ला सुनाई देता है तो कहीं जुआ-चोरी का। कोई खुद चोरी करता है तो कोई उसके लाये हुए माल को लेकर उसे प्रोत्साहन देता है। आयात निर्यात की चोरियों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं रहा है। सुना गया है, दूसरे देशों से सोना लाने वाले लोग जाँघ फाड़कर वहाँ भर लाते हैं। कोई सोने की गोलियाँ बनाकर मुँह में रख लेते हैं। बिना टिकट रेलगाड़ी में जाना आना तो भले-भले लोगों के मुँह से सुना जाता है, मानो वह तो कोई अपराध ही नहीं। मैं तो कहता हूँ कि व्यक्तिगत चोरी की अपेक्षा से भी स्वार्थवश होकर कानून भंग करना और सरकारी चोरी करना तो और भी घोर पाप है, अपराध है। क्योंकि उसका प्रभाव तो सारी समाज पर जा पड़ता है। परन्तु जो कोई सिर्फ अपनी हविस पूरी करना जानता है उसे यह विचार कहाँ ! वह तो किसी भी तरह से अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है। सरकार तो क्या, लोग तो धर्मायतनों से भी धोखा करने में नहीं चूकते हैं। गौशाला सरीखी सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओं में भी आये दिन गड़बड़ी होती हुई सुनी जाती है। प्रामाणिकता का कहीं दर्शन होना ही दुर्लभ हो रहा है। सरकार प्रबन्ध करते-करते थक गई है और अपराध दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। लोग कहते हैं कि सिंह बड़ा क्रूर जानवर होता है परन्तु मैं तो कहता हूँ कि ये बिना मार्का के सिंह उससे भी अधिक क्रूर हैं जो कि देश भर में विप्लव करते चले जा रहे हैं।

एक रोज एक निशानेबाज आदमी घोड़े पर चढ़कर जंगल की ओर चल दिया, कुछ दूर जाने पर उसे एक बाघ दीख पड़ा तो उसने अपना घोड़ा उसी बाघ के पीछे कर दिया। थोड़ी देर बाद वह बाघ तो अदृश्य हो गया और उसकी एवज में उसकी एक साधु से भेंट हुई, तब वह साधु के पैरों पड़ा। साधु ने कहा तुम कौन हो ? तो वह बोला प्रभो ! एक तीरन्दाज हूँ और क्रूर प्राणियों का शिकार किया करता हूँ। आज एक बाघ मेरे आगे आया था परन्तु न मालूम अब वह कहाँ गायब हो गया और अब तो रात होने को

गई है। साधु ने कहा कोई हर्ज नहीं, रात को शिकार और भी अच्छा मिलता है, चलो मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। चलते-चलते मदन बाजार में एक वेश्या के घर पर पहुँच जाते हैं तो क्या देखते हैं कि एक महाशय वेश्या के साथ बैठे-बैठे शराब पीते जाते हैं और कहते जाते हैं कि हे प्रिये, इस दुनियाँ में मेरी तो उपास्या देवता एक तू ही है। दिन में साधु बन कर सड़क पर बैठ जाता हूँ और किसी भगत को फीचर के आँक, तो किसी को सट्टे फाटके की तेजी मन्दी देता हूँ, एवं कोई पक्का जुआरी मिल गया तो उसे विजयकारक यन्त्र देने का ढौंग रचकर माल ऐंठता हूँ। दिन भर में जो कुछ पाया वह रात को आकर तेरी भेंट चढ़ा जाता हूँ। आगत साधु अपने तीरन्दाज से बोला कि कहो कैसा शिकार है ? मगर अब थोड़ी दूर आगे चलो। चल कर चीफ जज के मकान पर पहुँचे तो वहाँ पर जज साहेब के सामने एक वकील महाशय खड़े हैं जो कि एक हजार मोहरों की थैली देते हुये उन्हें कह रहे हैं कि श्रीमान् जी मेरे मुवक्किल का मुकदमा आपके पास विचारार्थ आया हुआ है जिसमें उसके लिये बलात्कार के अभियोग स्वरूप कारागार का हुक्म अदालत ने निश्चित किया है, प्रार्थना है कि विचार करते समय आप उसे उन्मुक्त रहने देने की कृपा करें और बाल बच्चों के लिये यह तुच्छ भेंट स्वीकार करें।

यह देखकर तीरन्दाज बोला, ओह! बड़ा अनर्थ है ! यहाँ पर तो स्वार्थवश होकर न्याय का ही गला घोंटा जा रहा है, किन्तु साधु बोला अभी थोड़ा और आगे चलना है। चल कर एक इन्सपेक्टर (निरीक्षक) के कमरे के पास पहुँच जाते हैं। वहाँ क्या देखते हैं कि उनके सम्मुख मेज पर तीन चार बन्द बोतलें रखी हैं जिनमें शुद्ध पानी भरा हुआ है और आरोग्य सुधा का लेबिल चिपका हुआ है, आगे एक आदमी खड़ा है और यह कह रहा है महाशय ! अपराध क्षमा कीजिये, यह दो हजार मोहरों की थैली लीजिये और इन बोतलों के बदले में आरोग्य सुधा की यह असली बोतलें रख देने दीजिये। अब तो तीरन्दाज के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह कहने लगा कि हे भगवन् ! यहाँ तो जिधर देखो उधर ही यही हाल है, किस किस को तीर का निशाना बनाया जाय ? वस्तुतः विचार कर देखा जाये तो जिस प्रकार ये लोग अपने जीवन के लिये औरों के खून के प्यासे बने हुए हैं, अन्याय करते हैं तो मैं क्या इन सबसे कम हूँ ? ये लोग तो स्वार्थवश अन्धे होकर ऐसा करते हैं, मैं तो व्यर्थ इनके प्राणों का ग्राहक हो रहा हूँ ! अगर कहूँ कि क्रूरता का अन्त करना है तो भला कहीं क्रूरता के द्वारा क्रूरता का अन्त थोड़े ही होने वाला है। क्रूरता को मारने के लिये शान्ति की जरूरत है तो स्वार्थ को मारने के लिये त्याग की, और दूसरों को सुधारने के लिये अपने आप सुधर कर रहने की, एवं अपने आप सुधर कर रहने के लिये सबसे पहले काम पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

(४६) काम पर विजय श्रेयस्कर है

काम यह संस्कृत भाषा में इच्छा का पर्यायवाची माना गया है। वैसे तो मनुष्य नाना प्रकार की इच्छाओं का केन्द्र होता है किन्तु उन इच्छाओं में तीन तरह की इच्छायें प्रसिद्ध हैं। खाने की, सोने की, और स्त्री प्रसंग की। इनमें से दो इच्छायें बालकपन से ही प्रादुर्भूत होती हैं तो स्त्री प्रसंग की इच्छा युवावस्था में विकसित हुआ करती है। पहले वाली दोनों इच्छाओं को सम्पोषण देना एक प्रकार से शरीर के सम्पोषण के लिये होता है किन्तु स्त्री प्रसंग को कार्यान्वित करना केवल शरीर के पोषण का ही हेतु होता है। अतः पूर्व की दो इच्छाओं को हमारे महर्षियों ने काम न कहकर आवश्यकता कहा है एवं कुछ हद तक उन्हें पूर्ण करना भी अभीष्ट बताया है इसलिये गृहस्थ की तो बात ही क्या - साधुओं तक को उनकी पूर्ति के लिये यथोचित आज्ञा प्रदान की है। परन्तु स्त्री-प्रसंग की इच्छा को तो सर्वथा नियन्त्रण योग्य ही कहा है, यह बात दूसरी है कि हरेक आदमी उसका पूर्ण नियन्त्रण करने में समर्थ न हो सके। एवं, कामेच्छा को नियन्त्रण करना इसलिये आवश्यक कहा गया है कि कोई भी मरना नहीं चाहता, हर समय अमर रहने के लिये ही अपनी बुद्धि से सोचता है। काम को जीतना सो बुद्धि के विकास का हेतु और मृत्यु को जीतना है परन्तु काम सेवन करना बुद्धि के विध्वंस के लिए होकर मृत्यु को निमन्त्रण देना है। अपने आप मरण मार्ग का निर्माण करना है।

हमारे हितचिन्तक महात्माओं ने उपर्युक्त सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर ही हम लोगों के लिये ब्रह्मचर्य का विधान किया है। बतलाया है कि मनुष्य अपने विचारों में स्त्री को स्त्री ही नहीं समझना, चित्त में उसकी कभी भी याद ही नहीं आने देना, ऐसे पूर्ण ब्रह्मचर्य को यदि धारण नहीं कर सके तो एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन तो अवश्य ही करें। स्पष्ट युवावस्था आने से पूर्व कुमार काल में कभी स्त्री प्रसंग का नाम न ले। वहाँ जो अपना भावी जीवन सुन्दर से सुन्दर बने इसकी साधन सामग्री बटोरने में ही समय बीतना चाहिये और वृद्धावस्था आ जाने पर यदि स्त्री विद्यमान भी हो तो उसका त्याग कर सिर्फ परमात्म स्मरण में अपने समय को बिताने लगे। रही मध्य की युवावस्था, सो वहाँ पर भी स्त्री को आराम देने की मशीन न मानकर अपने शरीर में आ प्राप्त हुये अवस्थोचित विकार को दबाने के लिये मधुर दवा के रूप में उसका सेवन किया जा सकता है।

हमारे पूर्वाचार्यों ने इसे पशु कर्म बतलाया है। इसका मतलब यह है कि ऋतुकाल में एक बार ही ऐसा करना है फिर नहीं। अब अगर हम यदि मनुष्य कहलाते हैं तो हमें उससे अधिक संयमित होना चाहिये। परन्तु यदि उस नियम को भी भंग करके मनमाना करते हैं तो मनुष्य तो क्या पशु भी नहीं बल्कि महर्षियों की निगाह में पशु से भी हीन कोटि पर आ

जाते हैं। परन्तु खेद है कि इस बात का विचार रखने वाला कोई बिरला ही महानुभाव होगा। हर एक मनुष्य के लिए तो पर्वादि के दिन भी ब्रह्मचर्य पूर्वक रह जाना बहुत बड़ी बात हो जाती है, कितने ही तो ऐसे भी निकल आयेंगे जिनको अपनी पराई का भी विचार शायद ही हो। कुछ लोग तो बेहूदेपन से भी अपने ब्रह्मचर्य को बरबाद कर डालते हैं। आज इस विज्ञान ने तरक्की के जमाने में तो एक और कुप्रथा चल पड़ी है वह यह कि जहाँ दो चार बच्चे हो लें तो फिर बच्चेदानी निकलवा डालनी चाहिये, ताकि बच्चा होने का तो कुछ भी भय न रहे एवं निडर होकर संसार का मजा लूटा जावे। कोई-कोई तो शादी सम्बन्ध होते ही आप्रेशन करवा डालते हैं ताकि बच्चे की आमदनी होकर उनकी गृहदेवी का नूर न बिगड़ने पाये। भला सोचो तो सही इस विलासिता की भी क्या कोई हद है ? जहाँ कि अपनी क्षणिक घृणित स्वार्थ पूर्ति के लिए प्राकृतिक नियम पर भी कुठाराघात किया जाता है। भले आदमी, अपने लंगोट को ही कस कर क्यों न रखें ताकि उनका परमात्मा प्रसन्न हो एवं उन्हें वास्तविक शान्ति मिले।

(५०) विवाह की उपयोगिता

आजकल के नव विचारक लोगों का कहना है कि विवाह की क्या आवश्यकता है वह भी तो एक बन्धन ही तो है। बंधन से मुक्त हो रहना मानवता को ध्येय है। फिर जानबूझ कर बन्धन में पड़ रहना कहाँ की समझदारी है। स्त्री और पुरुष दोनों को दाम्पत्य जीवन में विहीन होकर सर्वथा स्वतन्त्र रहना चाहिये। ठीक है, विवाह वास्तव में बन्धन है परन्तु विचार यह, कि उससे मुक्त हो रहने वाला जावेगा कौन से मार्ग से ? अगर वह ब्रह्मचर्य से ही रहता है अब तो ठीक है, उसे विवाह करने के लिए कौन बाध्य करता है ? मगर ऐसा तो सभी स्त्री पुरुष कर नहीं सकते हैं। जिसने अपनी वासना के ऊपर नियन्त्रण पा लिया हो ऐसा कोई बिरला व्यक्ति ही कर सकता है। बाकी स्त्री पुरुष तो अपनी वासनातृप्ति के लिए इधर-उधर दौड़ ही लगाएँगे। फिर उनमें और पशुओं के अन्तर ही क्या रह जावेगा ? बल्कि पशुओं का तो एक तरह से निर्वाह भी है क्योंकि वे लोग विवाह बन्धन से नहीं तो प्राकृतिक बन्धन से तो बँधे रहते हैं। इस बारे में वे अपनी सीमा के बाहर कभी नहीं होते, परन्तु मनुष्य में ऐसी बात नहीं है तथा वह एकान्त सौन्दर्य का उपासक होता है, जब तक सौन्दर्य है तब तक ही एक दूसरे को याद करता है, फिर कौन किसी को क्यों पूछेगा ? तो कैसे निर्वाह होगा ? किन्तु मनुष्य एक सामाजिक जीवन बिताने वाला प्राणी है। सामाजिकता का मूल आधार विवाह सम्बन्ध का होना ही है। अतः उसे सुचारु रखना समझदारों का कर्त्तव्य है। हाँ, वर्तमान में उसमें जो खराबियाँ आ घुसी हैं

उनका दूर करना परमावश्यक है।

(५१) विवाह का मूल उद्देश्य

सामाजिकता को अक्षुण्ण बनाये रखना है और दुराचार से दूर रहकर भी वैषयिक सुख की मिठास को चखते रहना है जैसे कि हमारे पूर्व विद्वान् श्रीमदाशाधर के "रतिवृत कुलोन्नति" इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है। यह तभी बन सकता है कि विवाहित दम्पतियों में परस्पर सौहार्दपूर्ण प्रेमभाव हो। इसके लिए दोनों के सौहार्द रहन-सहन, शील-स्वभाव में प्रायः हर बात में समकक्षता होनी चाहिये। अन्यथा तो वह दाम्पत्य पथ कण्टकाकीर्ण होकर सदा के लिए क्लेश का कारण हो जाता है। जैसा कि सोमा सती आदि के आख्यानों से जान लिया जा सकता है। एवं इस अनबन को दूर हटाने के लिए हमारे पूर्वजों ने एक स्वयम्वर प्रथा को जन्म दिया था, जिसमें कि कन्या अपनी बुद्धिमत्ता से अपने योग्य पति को स्वयं ढूँढ़ निकालती थी। उदाहरणार्थ गीतकला ने अपनी संगीतज्ञता के द्वारा धन्यकुमार को स्वीकार किया था। परन्तु ऐसा सभी जगह नहीं होता था, बल्कि अधिकांश कन्याओं को तो उनके माता-पिता ही योग्य वर के साथ संयोजित करते थे। तो वे सब भी वहाँ धनादिक और सब बातों पर कोई खास लक्ष्य न देकर यह जरूर देखते थे कि जिस वर के साथ हम अपनी बाई(पुत्री) का सम्बन्ध करने जा रहे हैं उसका शीलस्वभाव इसके साथ मेल खाता है या नहीं।

एक बहुत बड़ा बादशाह था जिसके एक लड़की हुयी जो कि पूर्व जन्म से संस्कार विशेष में जनता की सेवा करने वाली, सन्तोष स्वभाव वाली, सादा खाना और सादा पहनावा रखने वाली थी, किन्तु अपने सहज सौन्दर्य से और अपनी सहेलियों में सबसे बढ़कर थी। अतः जब वह विवाह योग्य हुयी तो बड़े-बड़े बादशाहों के लड़कों ने अपनी सहयोगिनी उसे बना रखने की उत्कण्ठा प्रगट की परन्तु उसके पिता बादशाह ने सोचा कि इसके लिए जो वर हो वह इसी जैसी प्रकृति का होना चाहिये। अब एक रोज बादशाह घूमने को निकला तो कुछ दूर जंगल में चला गया। वहाँ उसकी एक नवयुवक से भेंट हुयी जो कि वहाँ कुटिया बनाकर रह रहा था। अपने खेत में उसने आम, अमरूद, नारंगी अनारादि के चार छः पेड़ लगा रखे थे। बाकी जमीन में खेती करके अपनी गुजर करता था और आगत लोगों की सेवा करके अपने जन्म को सफल बना रहा था। बादशाह को आया जान उसने उचित स्वागत किया। बादशाह को उसकी चेष्टा से प्रसन्नता हुयी तो वह बोला कि मैं अपनी लड़की की शादी आपके साथ करना चाहता हूँ। युवक ने कहा प्रभो ! आप अपनी लड़की की शादी मेरे साथ कैसे कर सकोगे ? मैं तो मेहनत करने वाला हूँ। सद्

कमाता और सद् खाता हूं। बादशाह बोला, उन्हें इसकी कुछ चिन्ता नहीं, तुम मेरे साथ चलो। युवक बादशाह के साथ में हो लिया। जाते ही बादशाह ने अपनी लड़की की शादी उस युवक के साथ कर दी। तत्पश्चात् वर-वधू जब कुटिया के समीप आये तो शहजादी कुटिया में घुसने से रुकी। युवक ने पूछा - प्रिये ! क्या बात है ? तो जवाब मिला कि सामने में चूल्हें पर क्या पड़ा है ? तब फिर युवक बोला कि चार रोटियाँ सबेरे बनायी थीं, उनमें से दो तो मैंने खा ली थी और दो बच रही थीं तो मैंने सोचा सायंकाल के समय खां ली जावेंगी, वे ही पड़ी हैं। इस पर शहजादी बोली कि हे प्रभो ! अन्यऊ का फिक्र अभी से ? ये दो रोटियाँ तो किसी गरीब भाई को दे देनी थीं, सायंकाल तक जिन्दगी रही तो और रोटियाँ बनाकर खा ली जा सकती हैं। यदि ऐसी संग्रहकारिता ही मुझे पसन्द होती, तो किसी शाहजादे के साथ ही अपना नाता जोड़ती, आपके पीछे क्यों लगती ? यह सुनकर युवक बहुत खुश हुआ।

मतलब इस सब लिखने का यह है कि जैसी के साथ में वैसे का सम्बन्ध ही प्रशंसा योग्य होता है। मगर आज ऐसा सम्बन्ध कोई बिरला ही होता होगा। आज तो यदि देखा जाता है या तो रूप, सौन्दर्य या वित्तकोष। बस, इन दो के पीछे ही आज की जनता बँधी हुयी है। इसीलिये आजकल का दाम्पत्य जीवन प्रेमोद्भावक न होकर प्रायः कलह का स्थान ही रहता है। स्वर्ग का सन्देश मिलने के बदले वहाँ पर नरक का दृश्य देखने को मिलता है।

(५२) सन्तोष ही सच्चा धन है

जिस चीज से हमें आराम मिले, जिस किसी चीज की मदद से हम अपनी जीवन यात्रा के उस छोर तक आसानी से पहुँच सकें उसे धन समझना चाहिये। इस दुनियाँ के लोगों ने कपड़ा-लत्ता, रुपया-पैसा आदि बाह्य चीजों में ही आराम समझा। अतः इन्हीं के जुटाने में अपनी प्रज्ञा का परिचय देना शुरू किया। कपड़े के लिए सबसे पहले लोगों ने अपने हाथों से अपने खेत में कपास पैदा की, उसे पींज कर अपने हाथ के चरखे से सूत कातकर अपने हाथ से उसका कपड़ा बुनकर अपना तन ढँकना शुरू किया। फिर जब और आगे बढ़े तो मिलों को जन्म दिया। जिसमें शुरू में मारकीन, फिर नयनसुख मलमल, अबरवा सरीखे बारीक से बारीक वस्त्र तैयार होने लगे। शुरु में लोग पैदल चलते थे और दूर जाना होता तो बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी में बैठकर चले जाते थे। मगर आज तो मोटर गाड़ी, रेलगाड़ी और हवाई जहाज तक चल पड़े जिससे घण्टे भर में हजारों मील चला जा सके। बल्कि चार छः फर्लांग भी चलना हो तो बाइसिकल के आधार से चला जाता है।

पैदल चलना एक प्रकार से अपराध-सा समझा जाने लगा है। पैदल चलते समय पैरों में काँटे न गड़ पावें इसलिये पहले काठ की खड़ाऊँ पहनकर निर्वाह किया जाने लगा, फिर मुर्दा चमड़े के जूते बनने लगे परन्तु आज तो निर्दयतापूर्वक बिचारे जिन्दा पशुओं का ही चमड़ा उधेड़कर उसके जूते बनने लगे हैं। जिनको कि पहन लेने के बाद वापिस खोलना असभ्य गँवारु लोगों का काम समझा जाता है। जूता पहिने ही सो रहना चाहिये और जूता पहिने ही खाना भी खा लेना चाहिये - इसी में अपनी शान समझी जाने लगी है। गर्मी से बचने के लिये पहले तो दरख्तों की हवा ली जाती थी फिर ताड़ व खजूर वगैरह के पत्तों के पंखे बनाकर उनसे अपना काम निकाला जाने लगा। परन्तु अब तो बिजली के पंखों का आविष्कार हो लिया है जिससे कि बटन दबाया और मनमानी हवा ले ली जावे। पीने के लिए पानी भी पहले तो तालाब या नदियों से लिया जाता था। फिर कुएँ, बावड़ियाँ, बनने लगीं परन्तु अब तो हैण्डपम्प और नल आदि से मनमाना पानी मिलने लगा। मतलब यह कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त करता जा रहा है। फिर भी किसी को शान्ति के दर्शन नहीं हो रहे हैं प्रत्युत विपमता होती जा रही है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्पर्धा की सड़क पर दौड़ लगाते हुए अपने आपको सबसे अगाड़ी देखना चाहता है। बस इसी चिन्ता में इसका सारा समय बीतता है। यहाँ पर हमें एक बात की याद आ जाती है।

एक अच्छे करोड़पति सेठ थे जिनकी कई दुकानें चलती थीं, जिनकी उलझन में सेठ जी खाना खाने को भी दौड़ते से आते थे तथा रात को सोने के लिए भी बारह बजे तक आते थे सो आते ही सो जाते थे। परन्तु स्वप्न में भी उन्हें व्यापार कारोबार की बातें ही सूझती थीं। एक रोज सेठानी बोली - हे पतिदेव ! आप इतने बड़े सेठ हैं फिर भी आपके चित्त पर हर समय बड़ी व्यग्रता देखती हूँ। मेरे देखने में आपसे तो यह अपना पड़ोसी फूसिया ही सुखी मालूम पड़ता है जो समय पर मजदूरी करने जाता है और परिश्रम करके समय पर आ जाता है। सायंकाल के समय सितार पर दो घड़ी भगवान का भजन कर लेता है। सेठ ने कहा-ठीक बात है ! एक काम कर ! यह कुछ रुपयों की थैली है सो जाकर उसके आँगन में गिरा कर आ जा। सेठानी ने ऐसा ही किया। सबेरा होते ही जब फूसिया ने अपने यहाँ थैली पड़ी देखी तो विचार किया मैं भगवान का भगत हूँ अतः भगवान ने खुश होकर मेरे लिए भेजी है। परन्तु जब उसके रुपये गिने गये तो एक कम सौ थे। सोचा भगवान् ने एक कम सौ क्यों रहने दिया ? खैर कोई बात नहीं, इसे मैं पूरा कर लूँगा। अब वह उस रुपये को पूरा करने की फिकर में कुछ अधिक परिश्रम करने लगा। धीरे-धीरे रुपया पूरा हुआ तो अब उनको रखने के लिए एक सन्दूक और एक ताला की

भी जरुरत हुयी। धीरे-धीरे परिश्रम करके उनकी भी पूर्ति की। परन्तु जब वह सन्दूक उन रुपयों से भरी नहीं, कुछ खाली रह गयी तो फिर उसे भर लेने की फिकर रही, इसी उधेड़बुन और परिश्रम में पड़कर उसने वह सितार बजाना छोड़ दिया। बस यही हाल आज की सारी जनता का हो रहा है। एक घंटे एक बढ़े वह पूरा हो जावे, कहीं से बिना कमाया पैसा आ जावे और मैं धनवान बन जाऊँ। इसी दौड़-धूप में सभी तरह की समुचित साधन सामग्री होने पर भी बिना सन्तोष भाव के सुख कहाँ हो सकता है ? सुख का मुख्य साधन तो सन्तोष है अतः वही वास्तविक धन है। उसके सामने और सब बेकार है जैसा कहा है कि -

गो धन गजधन वाजि धन, कंचन और मकान ।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूल समान ।।१।।

भगवान महावीर स्वामी के समय में उनका भगत एक गृहस्थी हो गया है जिसकी कि धर्मपत्नी भी उसी के समान स्वभाव वाली थी। दोनों मेहनत मजदूरी कर पेट पालते थे। उस गृहस्थ का नियम था कि अपने पास बारह आने से अधिक नहीं रखूँगा। इसलिये लोग उसे पूर्णियाँ श्रावक कहते थे। एक रोज दोनों स्त्री-पुरुष सुबह की सामायिक करने को बैठे थे। इधर आकाश मार्ग से होकर देवता लोग भगवान की वन्दना के लिए जा रहे थे। सो उनके ऊपर आकर उन देवताओं का विमान अटक गया। देवों ने सोचा ये दोनों भगवान के भक्त होकर भी इतने गरीब हैं। हम लोगों को इनकी कुछ सहायता करनी चाहिये। अतः उनके तवा, बेलन, चकलादि को सोना बनाकर आगे को रवाना हुए। उधर सामायिक का समय पूर्ण होने पर पूर्णियाँ की स्त्री बोली-हे प्रभो ! आज यह क्या बात हुई ? मेरे चकला बेलन कहाँ गये ? और उनकी एवज में ये चकला बेलन आदि कौन किसके, यहाँ रख गया है ? हे भगवान ! मैं अब रोटियाँ बनाऊँ तो कैसे बनाऊँ ? इनको हाथ भी कैसे लगाऊँ ? इतने में देव लोग वापस लौटकर आये और बोले कि आप लोगों की धर्म भावना से प्रसन्न होकर यह ऐसा तो हम लोगों ने किया है। हम लोगों की तरफ से आपको यह सब भेंट है, आप ले लेवें। पूर्णियाँ की स्त्री ने कहा-प्रभा ! हमारे ये किस काम के ? हमारे लिये तो वे सब ही भले हैं जो कि मिट्टी और पत्थर के थे। इन सबका हम क्या करें ? इन सबके पीछे तो हम लोग बँध जावेंगे, आप अपने वापस लीजिये, हमें तो अपने वे ही देने की कृपा कीजिये। इस पर आनन्दित होकर देवता लोग बोले-ओह ! कितना बड़ा त्याग है और जय जयकार पूर्वक उन पर फूल वर्षाये।

(५३) गरीब कौन है ?

जिसके पास कुछ नहीं है वह। ऐसा कहना भूल से खाली नहीं है। जिसके पास भले ही कुछ न हो परन्तु उसे किसी बात की चाह भी न हो तो वह गरीब नहीं, वह तो अटूट धन का धनी है। गरीब तो वही है जिसके पास में अपने निर्वाह से भी अधिक सामग्री मौजूद है फिर भी उसकी चाह पूरी नहीं हुई है। जिसके पास खाने को कुछ भी नहीं है और उसने खाया भी नहीं मगर भूख बिल्कुल नहीं है तो क्या उसे भूखा कहा जावे ? नहीं। हाँ, जिसने दो लड्डू तो खा लिए हैं और चार लड्डू उसकी पल्लव में धरे हैं जिसको कि वह खाने लग रहा है किन्तु फिर भी कह रहा है मुझे और चाहिये, इतने ही से मुझे क्या होगा ? क्या इनसे मेरा पेट भर सकता है ? तो कहना होगा वही भूखा है।

एक समय किसी वृक्ष के नीचे एक परमहंस महात्मा बैठे हुए थे। उनके पास होकर एक भोला गृहस्थ निकला तो-अहो ! वह बड़ा गरीब है, इसके तन पर कपड़ा नहीं, खाने को एक समय का खाना नहीं ! ऐसा सोचकर कहने लगा-स्वामिन् ! ये दो लड्डू हैं, लीजिये खा लीजिये। यह धोती है इसे पहन लीजिये और यह चार पैसे आपके हाथ खर्च के लिए देता हूँसो भी ले लीजिये एवं आराम से रहिये। साधुजी बोले-भाई ! लड्डू किसी भूखे को, धोती किसी नंगे को और पैसे किसी गरीब को दे दो। यह सुनकर आश्चर्यपूर्वक गृहस्थ बोला-प्रभो ! आपके सिवा दूसरा ऐसा कौन मिलेगा ? तब फिर साधुजी बोले, भाई ! मैं तो भगवान का भजन कर रहा हूँ जिससे मेरा पेट भरा रहता है। कुदरत ने मुझे बहुत लम्बी आसमान की चादर दे रखी है और चलने फिरने के लिए मेरे पैर हैं, अब मुझे किसी चीज की जरूरत नहीं है। यदि तुझे देना ही है तो मेरे पास बैठ जा, मैं बताऊँगा उसे दे देना।

थोड़ी देर में मोटर में बैठा हुआ एक महाशय आया जिसे देखकर साधु ने उस गृहस्थ को इशारा किया कि इसको दे दो। गृहस्थ - मैं मेरी ये चीजें किसी गरीब को दे देना चाहता था, स्वामी जी ने कहा, यह मोटर में बैठा जा रहा है सो गरीब है इसे दे दो। इसलिये आपको दे रहा हूँ-ऐसा कहकर उसकी गोद में रखने लगा तो वह चौंक उठा और नीचे उतरकर साधुजी के पास आ, नमस्कार पूर्वक बोला-स्वामिन् ! आपने मुझे गरीब कैसे समझा ? देखिये मेरे पास यह मोटर ही नहीं और भी कई मोटरें हैं। घोड़ा गाड़ी, टम-टम भी है, दश खत्तियाँ अनाज की भरकर रखता हूँ जो कि फसल पर भर ली जाती है और फिर तेजी होने पर बेचकर खलास कर ली जाती है। एक सराफ की दुकान चलती है जिसमें पाकिस्तान से ले आया हुआ सोना खरीदकर रखा जाता है और वह दो रुपये तोला सस्ते में अपने ग्राहकों को दिया जाता है ताकि दुकान सुख अच्छी चलती है।

लोग समझते हैं कि पाकिस्तान का सोना खरीदना और बेचना बुरी बात है। परन्तु मैं तो जानता हूँ कि इसमें कौन सी बुराई है ? गैर देश का माल अपने देश में आता है एवं यहाँ के लोगों को सस्ते में मिल जाता है सो यह तो बहुत अच्छी बात है। अगर कोई सरकारी निरीक्षक आया तो उसकी जेब गरम कर दी जाती है, काम बेखटके चलता है। एक कपड़े की दुकान है जिसमें खादी वगैरह मोटा कपड़ा न बेचा जाकर फैशनी बारीक कपड़ा बेचा जाता है ताकि मुनाफा अच्छा बैठता है। अब एक कपड़े की मिल खोलना चाहता हूँ जिसमें दो करोड़ रूपये लगेंगे। सो एक करोड़ रूपये तो मेरे दानेश्वरसिंह की तरफ है। यद्यपि वह इस समय देना नहीं चाह रहा है परन्तु मेरा भी नाम शोषणसिंह है। उसने महाविद्यालय, अनाथालय आदि संस्थायें खोल रखी हैं जो कि उसके नाम से चलती हैं। मैं कचहरी जाता हूँ नालिस करके उनकी संस्थाओं की इमारत को कुड़क करवाकर वसूल कर लूंगा। बाकी एक करोड़ रुपयों के शेयर बेचकर लिए जावेंगे। इस पर साधुजी ने कहा कि इसीलिये मैं तुमको गरीब बतला रहा हूँ। तुम्हें पैसा प्राप्त करने की बहुत ज्यादा जरूरत है, ताकि किसी सज्जन के द्वारा स्थापित की हुयी पारमार्थिक संस्थाओं को नष्ट-भ्रष्ट करके भी अपनी हवस पूरी करना चाहते हो, एवं अन्नादि का अनुचित संग्रह करके भी पैसा बटोरने की धुन रखते हो।

(५४) परिग्रह ही सब पापों का मूल है

मनुष्य अपने पतनशील शरीर को स्थायी बनाये रखने के लिए इसे हृष्ट-पुष्ट कर रखना चाहता है। अतः जिन चीजों को इस शरीर के पोषण के लिए साधनस्वरुप समझता है उन्हें अधिक से अधिक मात्रा में संग्रह कर रखने का और जिनको उसके बाधक समझता है उन्हें दूर हटाने के लिए एडी से चोटी तक का पसीना बहा देने में संलग्न हो रहने का अथक प्रयत्न करता है। इसी दुर्भाव का नाम ही परिग्रह है। अर्थात् इस शरीर के साथ मोह और शरीर की सहायक सामग्री के साथ ममत्व होने का नाम परिग्रह है। जिसके कि वश में हुआ यह शरीरधारी सब कुछ करता है, व्यभिचार में फँसता है, चोरी करता है, झूठ बोलता है और अपने पराये को कष्ट देने में प्रवृत्त हो रहता है।

पुरातनकाल में लोग अपने जीवन निर्वाह के योग्य वस्तुओं को अपने शारीरिक परिश्रम से सम्पादित करते थे, उन्हीं से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते थे। एक आदमी एक काम करता तो दूसरा आदमी किसी दूसरे काम में दिलचस्पी लेता था। इस प्रकार अपनी आवश्यक चीजों को अपने वर्ग से प्राप्त करते रह कर परस्पर प्रेम और सन्तोषपूर्वक एक परिवार का सा जीवन बिताया जाया करता था जिसमें स्वार्थपूर्ति के

साथ-साथ परमार्थ की भावना भी जीवित रहती थी। यदि कहीं विभिन्न वर्ग के व्यक्ति से भी कोई चीज लेनी होती थी तो चीज के बदले चीज देकर ली जाती थी। जैसे एक जूतों की जोड़ी का मूल्य पांच सेर अनाज, एक गेहूँ की बोरी का मूल्य दो बकरियाँ, एक चादर का दाम एक भेड़, किन्तु आवश्यकता प्रधान थी, विनिमय गौण । धीरे धीरे विनिमय के लाभ को पहचानकर अधिक उत्पादन का प्रयत्न होने लगा। विनिमय आगे बढ़ा, नाना परिवारों की भाँति, गाँवों, शहरों, प्रान्तों और देशों में परस्पर व्यवसाय होने लगा। एवं फिर उत्पादन का ध्येय ही व्यवसाय हो गया। उसमें सहूलियत पाने के लिये मुद्राओं को जन्म दिया गया। हर प्रकार के व्यवसाय का मूल सूत्र अब मुद्रा बन गई। सुगमता यहाँ तक बढ़ी कि जेब में एक पैसा भी न होकर लाखों- करोड़ों का व्यापार सिर्फ जबान पर होने लगा ।

मनुष्य ने जिसे एक साधन के रूप में स्वीकार किया था वही साध्य होकर आज उसके सिर पर चढ़ बैठा है। जिसके पास पैसा, वही दर्शनीय जैसा, बाकी तो कोई वैसा न ऐसा, जैसी बातें कही जाने लगी हैं। प्रायः सभी के दिल में यही समायी हुई है कि उचित या अनुचित किसी भी मार्ग से पैसा प्राप्त किया जावे।

सोचने का विषय यह कि वह अर्थ है क्या चीज, जिसको मनुष्य ने इतना महत्व दे रखा है ? वह है मनुष्य की अपनी कल्पना का विषय। इसके सिवाय और कुछ भी नहीं। मनुष्य ने पहले सोने को मान्यता दी तो उसके सिक्के बने, फिर चांदी के, उसके बाद चमड़े के किन्तु अब कागज का नम्बर आ गया है। यदि मनुष्य अपने विचारों में लोहे का उतना महत्व देने लगे जितना कि वह सोने को दे रहा है तो लोहा सोना बन जावे और सोने मिट्टी के बराबर बन जाता है। खैर !

आज का मानव केवल पैसे का उपासक बना हुआ है। मानता है कि पैसे से ही सब काम चलता है अतः किसी भी उपाय से पैसा प्राप्त किया जावे। वह भी इतना हो तो बहुत ठीक जिससे कि मैं सबसे अधिक पैसे वाला कहलाऊँ, बस इसी विचार से अनेकों की आजीविका के ऊपर कुठाराघात करके भी अपने आपका ही खजाना भरना चाहता है। आज अनेक मिल और फैक्ट्रियाँ खुलती हैं। उनमें क्या होता है ? लाखों आदमियों का काम एक मशीन से ले लिया जाता है। उसकी आय एक श्रीमान् के यहाँ आकर जमा हो जाती है। वह भी जहाँ लाखों का पेट भर सकता था वहाँ सिर्फ इने गिने आदमियों की पेटपूर्ति का कारण हो रहता है एवं उन काम करने वालों का भी स्वास्थ्य उस मशीन के अथक परिश्रम से खराब हो रहता है। परन्तु जो लोग स्वयं उसमें धन कमाकर इकट्ठा करना चाहते हैं उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं। इसीलिये तो आज बेकारी बढ़ती चली जा रही है। जो विधवा बहिनें कपास की चरखियां चलाकर चरखे के द्वारा सूत कातकर

अपना पेट पालती थीं या किसी श्रीमान् का पीसना पीस कर अपनी भूख मिटाती थीं, वे सब आज बिना धन्धे के भूखों मर रही है।

कोई सेठ साहूकार किसी को नौकर भी रखता है तो इसीलिये कि इसके द्वारा मेरा कारोबार चलेगा, जो इसको वेतन दूँगा मुझे इसके द्वारा अधिक आमदनी होगी। नौकर भी यही सोचता है कि चलो ये मुझे जो नौकरी देते हैं मैं अभी किसी भी दूसरे रास्ते से उतनी प्राप्ति नहीं कर सकता हूँ इसीलिये अभी तो यही रहना चाहिये और किसी दूसरे काम की निगाह करते रहना चाहिये जहाँ कोई इससे भी अधिक प्राप्ति का मार्ग हाथ आया कि इसको छोड़ दूँगा। 'गुरु चेला लालची दोनों खेलें दाव' वाली कहावत चलती है। स्वामी और सेवकपन का आदर्श बिल्कुल लुप्त हो गया है, सिर्फ पैसे से यारी है। जिधर देखो उधर यही हाल है। अपनी धन संग्रह की भावना को पोषण देते हुए पर-परिशोषण ही जगाया जा रहा है। पैसे के द्वारा जो चाहे सो कर लिया जाता है और अपनी शान बतायी जाती है। इधर सब बातें तो रहने दीजिये आज तो शासन सत्ता भी पैसे के आधार पर ही चलती देखी जा रही है। जब मतदान का अवसर आया और आपके पास नोट हों उनको बखेर दीजिये और अपने पक्ष में वोट ले लीजिये। फिर क्या ? सत्ताधीश हो रहिये एवं फिर जो नोट आपने फेंके थे उससे कई गुने नोट थोड़े ही दिनों में बटोर लीजिये। हाय भारत माता ! तेरी सन्तान की आज क्या दशा हो गयी है। जहाँ राजा और प्रजा में पिता-पुत्रवत् सौहार्द भाव था। वहाँ आज यह दशा देखने को मिल रही है इस पैसे के प्रलोभन में आकर। राज्य-शासक प्रजा का सर्वस्व हड़प जाना चाहते हैं तो प्रजा राज्य को नष्ट कर देने के लिए कमर कस रही है। आज से करीब बाइस सौ वर्ष पूर्व ईरान से आकर सिकन्दर महान ने भारत पर आक्रमण किया था तो पौरुष राजा से उसकी मुठभेड़ हुयी। यद्यपि विजय सिकन्दर के हाथ लगी फिर भी पौरुष की वीरता को देखकर सिकन्दर को बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनों एक जगह बैठ कर परस्पर बातें कर रहे थे। इतने में ही दो आदमी और आये जो बोले कि आप दोनों महानुभाव विराज रहे हो हम दोनों का एक झगड़ा मिटा दीजिये। उन आगन्तुकों में से एक ने कहा कि मैंने इनसे कुछ जमीन मोल ली थी। उसे खोदते हुए वहां पर कुछ स्वर्ण निकला है, मैंने इससे कहा यह सब स्वर्ण तो आपका है आप लीजिये, मैंने तो सिर्फ आप से जमीन खरीदी है ना कि यह स्वर्ण, इस पर यह कहते हैं कि वाह ! जब मैंने तुम्हें जमीन दी तो फिर यह स्वर्ण जो कि उस जमीन में से निकला है उससे पृथक् थोड़े ही रह गया। वह सुनकर सिकन्दर से पौरुष बोला कि इसका इन्साफ आप करें। किन्तु सिकन्दर ने कहा-नहीं, यह सब प्रजा आपकी है। यह प्रान्त भी आपका है। आप ही यहाँ के राजा है। मैंने सिर्फ आपको अपने दो हाथ दिखाये हैं। मेरा

यहाँ कुछ नहीं, है सो सब आपका है। इसलिए आप ही इसका निपटारा कीजिये।

क्षण भर विश्राम लेकर पौरुष ने उस प्रार्थना करने वाले से कहा कि भाई क्या आपके कोई सन्तान नहीं है ? तो जवाब मिला कि मेरे एक लड़की है और उनके एक लड़का । पौरुष ने कहा कि उन दोनों का आपस में विवाह कर दो और यह सोना उनको दहेज के रूप में दे दो। इससे वे दोनों तो बड़े खुश हुए किन्तु सिकन्दर ने कहा आपने यह क्या किया ? यह सब माल तो सरकार के योग्य था। पौरुष ने कहा - "अब भी तो वह सरकार का ही तो है।" बल्कि जो भी प्रजा के पास में धन-माल है वह सरकार का ही है। प्रजा भी सारी सरकार की ही है। सरकार उससे जब जो चाहे ले सकती है। मेरी समझ में प्रजा उसके देने में कुछ आगा पीछा नहीं सोचेगी। सिकन्दर को इस पर विश्वास नहीं हुआ। वह बोला कि मैं इसको देखना चाहता हूँ। पौरुष ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि सरकार को जरूरत है, जिसके पास जितना सोना हो यहाँ लाकर रख देवे। शाम तक अपने-अपने नाम की चिट लगा कर जिसके पास जो सोना था वहाँ लाकर डाला गया। बहुत बड़ा ढेर लग गया। सबेरा होते ही जो सोने का पर्वत सरीखा ढेर और राजा तथा प्रजा में इस प्रकार का उदारतापूर्ण व्यवहार देखा तो सिकन्दर अचम्भे में आ गया और बोला कि धन्यवाद है आपको तथा आपकी प्रजा को। मैंने ऐसे सन्तोषपूर्ण लोगों को कष्ट दिया इसका मुझे पूर्ण पश्चाताप है।

लोगों को यह कह दिया गया कि अभी कोई जरूरत नहीं है अतः अपना-अपना सोना वापिस ले जाओ तो सबने ठीक अपने-अपने नाम का सोना बड़ी शान्ति के साथ ले लिया। विचार का विषय है कि उस समय की बात और आज की बात में कितना अन्तर है, कहां वह प्रकाशमय दिन था जो कि लोगों को सन्मार्ग पर स्थिर किये हुए था और कहाँ आज अन्धकारपूर्ण रात्रि है जिसमें कि लोग दिग्भ्रान्त होकर इधर-उधर टक्कर खा रहे हैं।

(५५) न्यायोपात्त धन

ऊपर बताया गया है कि परिग्रह अनर्थ का मूल है और धन है वह परिग्रह है। अतः वह त्याज्य है परन्तु याद रहे कि इसमें अपवाद है क्योंकि पारिवारिक जीवन बिताने वाले गृहस्थों को अभी रहने दिया जाय, उनका तो निर्वाह बिना धन के हो ही नहीं सकता परन्तु मैं तो कहता हूँ कि परिवार से दूर रहने वाले त्यागी तपस्वियों के लिए भी किसी न किसी रूप में वह अपेक्षित ठहरता है क्योंकि उनको भी जब तक यह शरीर है तब तक इसे टिका रखने के लिए भोजन तो लेना पड़ता ही है जो कि धन के आधार पर निर्धारित है।

यह बात दूसरी है कि उनका देश-काल उन्हें स्वयं धनोपार्जन करने को नहीं कहता है। उन्हें तो गृहस्थ अपने परिश्रम से उपार्जन किये हुए धन के द्वारा सम्पादित अन्न में से श्रद्धापूर्वक जो जितना कुछ दे उसी पर निर्वाह करना होता है। परन्तु गृहस्थ जीवन उससे विपरीत होता है। उसे उसके अपने परिवार के एवं अपने आपके भी निर्वाह को ध्यान में रख कर चलना पड़ता है। अतः उसके लिए धन को आवश्यक मानकर न्यायपूर्वक कमाई करने की आज्ञा है। न्यायवृत्ति का सीधा सा अर्थ होता है उचित रीति से शारीरिक परिश्रम करना। उससे जो भी लाभ हो उसमें से कुछ भाग से बाल, वृद्ध, रोगी, त्यागी और प्राघूर्णिक की सेवा करके शेष बचे हुए से अपना निर्वाह करना एवं आय से अधिक व्यय कभी नहीं करना।

धन्यकुमार चरित्र में किसान हल जोतकर अपने विश्राम स्थल पर आता है और उसकी घरवाली उसके लिये भोजन लाकर देती है तो वह कृषक धन्यकुमार को भी खाने के लिए कहता है कि आइये कुमार ! भोजन कीजिये। जवाब मिलता है कि आप ही खाइये, मैं तो मेहनत किये बिना नहीं खा सकता। यदि आप मुझे खिलाना ही चाहते हैं तो मुझ से अपना कुछ काम ले लीजिये। इस पर लाचार होकर किसान को धन्यकुमार से हल जोतने का काम लेना पड़ा। क्योंकि उसे खिलाये बिना वह भी खा नहीं सकता था और धन्यकुमार उसका काम किये बगैर कैसे खाये ? अतः धन्यकुमार ने प्रसन्नतापूर्वक हल जोतने का कार्य किया। मतलब यह कि न्यायवृत्ति वाला मनुष्य किसी से माँगना तो दूर रहा वह तो किसी का दिया हुआ भी लेना ठीक नहीं समझता। वह तो स्वयं पर भरोसा रखता है। इसी धन्यकुमार की स्त्री सुभद्रा जब इसे ढूँढने के लिये अपने सास-ससुर के साथ निकलती है और मार्ग में लुटेरों से पाला पड़ जाता है, लुट जाते हैं तो फिर जाकर जहाँ तालाब खुद रहा था वहाँ पर मिट्टी खोद कर डालने के काम में लगते हैं। मालिक जाकर देखता है तो कहता है कि ये लोग इतना परिश्रम क्यों कर रहे हैं ? मिट्टी खोद कर क्यों फेंक रहे हैं ? ये सब लोग तो हमारे अतिथि हैं। मेरे घर पर चलें और आराम से रहें। ऐसा भी न करें तो भी कम से कम इतना तो अवश्य करें कि जिन-जिन चीजों की आवश्यकता हो मेरे यहाँ से माँगा लेवें। इस पर सुभद्रा ने कहा कि मिट्टी खोद कर डालना तो हमारा कर्त्तव्य है, श्रम कर खाना यह तो मनुष्य की मनुष्यता है किन्तु किसी के यहाँ से यों ही ले आना यह तो गृहस्थ जीवन का कलंक है, घोर अपराध है। हम लोग ऐसा कैसे कर सकते हैं ?

(५६) दूसरे की कमाई खाना गृहस्थ के लिए कलंक है

यह बात है भी ठीक क्योंकि कमाई करने के योग्य होकर भी जो दूसरे की ही कमाई खाता है वह औरों को भी ऐसा ही करने का पाठ सिखाता है एवं जब और सब लोग भी ऐसा ही करने लग जावें तो फिर कमाने वाला कौन रहे ? ऐसी हालत में फिर सभी भूखे मरें, निर्वाह कैसे हो ? इसीलिये न्यायवृत्ति वाला महानुभाव औरों की कमाई की बात ही क्या खुद अपने पिता की कमाई पर भी निर्भर होकर रहना अपने लिये कलंक की बात मानता है। जैसा कि -

उत्तमं स्वार्जितं वित्तं मध्यमम् पितुरर्जितं ।
अधमं भ्रातृवित्तं स्यात्स्त्रीवित्तं चाधमाधमं ।।१।।

इस नीति वाक्य से स्पष्ट होता है और इस विषय में उदाहरण हमारे पुरातन साहित्य में बहुतायत से मिलते हैं। एक शाहजहाँ नाम का मुगलसान बादशाह हो गया है। उसकी बेगम नूरजहाँ अपने हाथों से खाना बनाया करती थी। एक रोज रोटियाँ बनाते समय उसके हाथ जल गये। फिर भी वह उसी प्रकार रोज खाना बनाती रही। किन्तु एक दिन उसके हाथों में पीड़ा अधिक बढ़ गयी जिससे रोटी बनाने में वह बहुत कष्ट अनुभव करने लगी। बादशाह जब खाना-खाने के लिये आया तो रो पड़ी, बादशाह ने पूछा क्या बात है ? रोती क्यों हो ? बेगम बोली आप ही देख रहे हो मेरे हाथों में पीड़ा बहुत है जिससे रोटियाँ बनाने में अड़चन पड़ती है। कम से कम जब तक मेरे हाथ ठीक न हो पायें तब तक एक बान्दी का प्रबन्ध कर दें ताकि वह खाना बना दिया करे। जवाब मिला कि बात तो ठीक है परन्तु अगर बान्दी रखी जाय तो उसे उसका वेतन कहां से कैसे दिया जावे ? बेगम ने आश्चर्य से कहा- बादशाह सलामत यह आप क्या कह रहे हैं ? जब कि आपके अधिकार में दिल्ली की बादशाहत है फिर भला आपके पास पैसों की क्या कमी है ? खजाने भरे पड़े हैं। बादशाह बोला -खजाने में जो पैसा है वह तो पिता की दी हुई धरोहर है जो कि प्रजा के उपयोग की चीज है, उस पर मेरा जातीय अधिकार क्या हो सकता है ? मैं तो रूमाल रोजमर्रा तैयार कर लेता हूँ, उसकी आय से मेरा और तुम्हारा गुजर बसर होता है वही मेरी सम्पत्ति है।

(५७) न्यायोचित वृत्ति

सबसे पहले तो वह है कि जमीन में हल जोतकर अन्न पैदा किया जाय, वह इसी विचार से कि मैंने जिसका अन्न कर्ज लेकर खाया है वह ब्याज बाढ़ी सुदा चुका दिया जावे एवं बाल बच्चों सहित मेरा उदर पोषण हो जावे और द्वार पर आये हुये अतिथि का स्वागत भी हो जावे। हाँ ! कहीं-मैं खेती तो करता हूँ परन्तु इसमें उत्पन्न हो गया हुआ अन्न

यदि अधिकांश उसी के यहां चला जावेगा जिसके यहां का अन्न मैंने पहले से लेकर खा रखा है, ठीक तो जब हो कि वह मर जावे ताकि मुझे उसे न देना पड़े और सारा अन्न मेरे ही पास में रह जावे। जिससे कि मैं अन्नाधिपति बन कर भूतल पर प्रतिष्ठा पाऊँ, इस तरह का विचार आ गया तो वह खेती करना अन्यायपूर्ण हो जाता है।

खेती दुनियां के लोगों की परमावश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली है। अत एव खेती करना अपना कर्त्तव्य समझकर उसे तरक्की देना, अच्छी से अच्छी खेती हो, ज्यादा से ज्यादा अन्न और भूसा पैदा हो इसकी कोशिश करना, उसे हर तरह की विघ्न बाधाओं से बचाये रखने की चेष्ट करना। यह तो एक भले किसान का कर्त्तव्य होता है। मगर मेरी खेती को चर जाने वाले ये बन्दर, हिरण वगैरह पैदा ही क्यों हुए ? ये अगर नष्ट हो जावें, दुनियां में इनकी सत्ता ही न रहे तो अच्छा हो - इस प्रकार की संकीर्ण भावना रखना सो कृपकता का दूषण है। क्योंकि दुनियां तो प्राणियों के समूह का नाम है जिसमें सभी प्राणी अपना-अपना हक रखते हैं। अपनी-अपनी जगह सभी सार्थक हैं। फिर भला यह कौन सी समझदारी है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के वश होकर औरों का सत्यानाश चाहे। मनुष्य को तो चाहिये कि अपने कर्त्तव्य का पालन करे, होगा तो वही जो कि प्रकृति को मंजूर है। यहां पर हमें एक बात का स्मरण हो आता है कि चरित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के गृहस्थ जीवन की है।

श्री शान्तिसागरजी महाराज का जन्म पटेल घराने में हुआ था जिसका परम्परागत धन्धा खेती करना था। उनके पिता ने उन्हें खेती की रखवाली करने पर नियत किया। अतः पिता की आज्ञा से आप रोज खेत पर जाया करते थे। एक दिन एक बिजार आया और उनके खेत में चरने लगा। कुछ देर में उन्होंने उसे निकालकर दूर हटा दिया मगर थोड़ी देर बाद फिर उन्हीं के खेत में चरने लगा। एवं वह अभ्यासानुसार रोज वहीं आकर चरने लगा कुछ दिन बाद उनके पिता खेत पर आये और देखा तो बिजार चर रहा है खेत में ! देखकर पिता बोले-भैया तुम क्या रखवाली करते हो ? देखो ! बिजार खेत को बिगाड़ रहा है। जवाब मिला कि पिताजी ! मैं क्या करूँ ? मैं तो इसे बहुत निकालता हूँ मगर यह बार-बार यहीं पर आ जाता है। क्या बात है ? दुनियाँ में धन सीर का है इसके हिस्से का यह भी खा जावेगा, अपना है सो रह जावेगा। पिता ने अपने मन में कहा बड़ा अजीब लड़का है ! खैर, सुना जाता है कि वहाँ और सालों से भी अधिक अन्न उत्पन्न हुआ। ठीक है नेक नीयत का फल सदा अच्छा ही होता है। मगर कच्चे दूध से पोषण पाये हुये इस मानव को विश्वास भी कैसे हो। यह तो समझता है कि मेरी मेहनत से जो कुछ भी कमाता हूँ वह सब मेरा है। उसमें दूसरे का क्या हक है ? मैं किसी दूसरे के धन को न

हड़प जाऊँ यही बहुत है। परन्तु मेरे धन में से दूसरा कोई एक दाना भी कैसे खा सकता है ? बस इस खुदगर्जी की वजह से ही यह अपने कार्यों में पूर्णरूप से सफल नहीं हो पाता है। प्रत्युत कभी-कभी तो इसको लाभ के स्थान पर नुकसान भुगतना पड़ता है।

(५८) महाराजा रामसिंह

महाराजा रामसिंह जयपुर स्टेट के एक प्रसिद्ध भूपाल हो गये हैं। जो कि एक बार घोड़े पर बैठकर अकेले ही घूमने को निकल पड़े। घूमते-घूमते बहुत दूर जंगल में पहुँच गये तो दोपहर की गर्मी से उन्हें प्यास लग आई। एक कुटिया के समीप पहुँचे जिसमें एक बुढ़िया अपनी टूटी सी चारपाई पर लेटी हुयी थी। बुढ़िया ने जब उन्हें अपने द्वार पर आया हुआ देखा तो वह उनके स्वागत के लिए उठ बैठी और उन्हें आदर के साथ चारपाई पर बैठाया। राजा बोले कि माताजी मुझे बड़ी जोर से प्यास लग रही है, अतः थोड़ा पानी हो तो पिलाइये। बुढ़िया ने अतिथि सत्कार को दृष्टि में रखते हुए उन्हें निरा पानी पिलाना उचित न समझा। इसलिये अपनी कुटिया के पीछे होने वाले अनार के पेड़ पर से दो अनार तोड़कर लायी और उन्हें निचोड़ कर रस निकाला तो एक डबल गिलास भर गया जिसे पीकर राजा साहब तृप्त हो गये। कुछ देर बाद उन्होंने बुढ़िया से पूछा-तुम इस जंगल में क्यों रहती हो तुम्हारे कुटुम्ब में और कौन है ? जवाब मिला कि यहाँ जंगल में भगवान भजन अच्छी तरह से हो जाता है। मैं हूँ और मेरे एक लड़का है जो कि जलाने के लिये जंगल में से सूखी लकड़ियाँ काट लाने को गया हुआ है। यह जमीन जो मेरे पास बहुत दिनों से है पहले ऊसर थी अतः सरकार से दो आने बीघे पर मुझे मिल गई थी। जिसको भगवान के भरोसे पर परिश्रम करके हमने उपजाऊ बना ली है। अब इसमें खेती कर लेते हैं जिससे हम दो माँ बेटों का गुजर बसर हो जाता है एवं आए हुए आप सरीखे पाहुणे का अतिथि सत्कार बन जाता है। यह सुन राजा का मन बदल गया। सोचने लगे ऐसी उपजाऊ जमीन क्यों दो आने बीघे पर छोड़ दी जाये ! बस फिर क्या था उठकर चल दिये और जाकर दो रूपये बीघे का परवाना लिखकर भेज दिया। अब थोड़े ही दिनों में अनार के जो पेड़ उस खेत में लगाये हुए थे वे सब सूखे से हो गये और वहाँ पर अब खेती की उपज भी बहुत थोड़ी होने लगी। बुढ़िया बेचारी क्या करे लाचार थी। कुछ दिन बाद महाराज रामसिंह फिर उसी घोड़े पर सवार होकर उधर से आ निकले। बुढ़िया की कुटिया के पास आ ठहरे तो बुढ़िया उनका सत्कार करने के लिए पेड़ पर से अनार तोड़कर लाई परन्तु उन्हें बिदारकर देखा तो बिल्कुल शुष्क, काने कीड़ोंदार थे। अतः उन्हें फेंकर कर और अच्छे से फल तोड़कर लाई तो उनमें से भी कितने ही तो सड़े गले निकल गये। तीन

चार फल चखा ठीक थे। उन्हें निचोड़ा तो मुश्किल से आधा गिलास रस निकल पाया। यह देखकर महाराज रामसिंह झट बोल उठे - माताजी ! दो तीन वर्ष पहले जब मैं यहाँ आया था तो तुम्हारे अनार बहुत अच्छे थे, दो अनारों में से ही भरा गिलास रस का निकल आया था। अब की बार यह क्या हो गया ? बुढ़िया ने जवाब दिया - असवारजी ! क्या कहूँ ? निगोड़े राजा की नीयत में फर्क आ गया, उसी का यह परिणाम है। उसे क्या पता था कि जिससे मैं बात कर रही हूँ वह राजा ही तो है। वह तो उन्हें एक साधारण घुड़सवार समझकर सरल भाव से ऐसा कह गई। राजा समझ गये कि बुढ़िया ने अपने परिश्रम से जिस जमीन को उपजाऊ बनाया था उस पर तुमने अपने स्वार्थवश हो अनुचित कर थोप दिया, यह बहुत बुरा किया।

बन्धुओ ! जहाँ सिर्फ जमीनदार की बुरी नीयत का यह परिणाम हुआ वहाँ आज जमीनदार और काश्तकार दोनों ही प्रायः स्वार्थवश हो रहे हैं। ऐसी हालत में जमीन यदि अन्न उत्पन्न करने से मुँह मोड़ रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हम देख रहे हैं कि हमारे बाल्यजीवन में जिस जमीन में पच्चीस-तीस मन बीघे का अन्न पैदा हुआ करता था वहीं आज प्रयत्न करने पर भी पाँच छः मन बीघे से अधिक नहीं हो पाता है। जिस पर भी आये दिन कोई न कोई उपद्रव आता हुआ सुना जाता है। कहीं पर टिड्डियाँ आकर खेत को खा गई तो कहीं पानी की बाढ़ आ गई या पाला पड़कर फसल नष्ट हो गई इत्यादि यह सब हम लोगों की ही दुर्भावनाओं का ही फल है। यदि हम अपने स्वार्थ को गौण करके सिर्फ कर्त्तव्य समझकर परिश्रम करते रहें तो ऐसा कभी नहीं हो सकता है।

(५९) हमारी आँखों देखी बात

एक बहिनजी थीं,जिनके विचार बड़े उदार थे। उनके यहाँ खेती का धंधा होता था। सभी आवश्यक चीजें प्रायः खेती से प्राप्त हो जाया करती थीं। अतः प्रथम तो किसी से कोई चीज लेने की वहाँ जरूरत ही नहीं होती थी, फिर भी कोई चीज किसी से लेनी हो तो बदले में उससे भी अधिक परिमाण की कोई दूसरी चीज अपने यहाँ की उसे दिये बिना नहीं लेती थी। वह सोचती थी कि मेरे यहाँ की चीज मुझे जिस तरह से प्यारी है उसी प्रकार दूसरे को भी उसकी अपनी चीज मुझसे भी कहीं अधिक प्यारी लगती है। हाँ, जब कोई भी भाई आकर उसके पास माँगता था कि बहिनजी क्या आपके पास गेहूँ हैं ? यदि हो तो दो रुपये के मुझे दे दीजिये, इस पर वह बड़ी प्रसन्नता के साथ गेहूँ उसे दे देती मगर रुपये नहीं लेती थी। कहती थी भाईजी रुपये देने की क्या जरूरत है, ये गेहूँ आपके और मैं आपकी बहिन। आज आप मुझसे ले जाते हैं तो कभी यदि मुझे जरूरत हुई तो मैं आप से

ले आ सकती हूँ। मैं रुपये तो आप से नहीं लेऊँगी आप गेहूँ ले जाइये और अपना काम निकालिये। आप मुझे रुपये दे रहे हैं इसका तो मतलब यह कि अपना आपस का भाईचारा ही आज से समाप्त करना चाहते हैं, मैं इसको अच्छी बात नहीं समझती, इत्यादि रूप से वह सभी के साथ वात्सल्यपूर्ण व्यवहार रखती थी। अब एक बार माघ के महीने की बात है कि बादल होकर वर्षा होने लगी। आसपास के सब खेत बरबाद हो गये मगर उपर्युक्त बहिनजी के चार खेत थे उनमें किसी में कुछ भी नुकसान नहीं हुआ, इसलिये मानना पड़ता है कि हमें जो कुछ भला या बुरा भोगना पड़ रहा है, वह सब हमारी ही करनी का फल है।

(६०) शिल्प कला

यद्यपि खाने पीने और पहनने ओढ़ने वगैरह की, हमारे जीवन निर्वाह योग्य चीजें सब खेती करने से प्राप्त होती हैं, जमीन जोतकर पैदा कर ली जाती हैं, फिर भी इतने मात्र से ही वे सब हमारे काम में आने लायक हो रहती हों सो बात नहीं, किन्तु उनमें रूपान्तर करने से उपयोग में लाई जाती हैं. जैसे कि खेत में उत्पन्न हुए अन्न को पीसकर उसकी रोटियाँ बनाकर खाई जाती हैं अथवा उसे भूनकर चबाया जाता है। कपास को घरखी में से निकालकर उसे पींजकर फिर उसे चर्खे से कातकर सूत बनाया जाता है और बाद में उसका कर्घे के द्वारा वस्त्र बुनकर पहिना जाता है। तिलों को पीसकर तेल बनाया जाता है इत्यादि सब शिल्पकला कहलाती है जो कि अनेक प्रकार की होती है। इस शिल्पकला के विकास में भी हमारे पूर्वजों ने तो अहिंसा की पुट रखी थी। एक कोल्हू में दिन भर में एक मन तिल पिलते थे, जिसमें कम से कम एक बैल और एक आदमी लगाकर उनके निर्वाह का ध्यान होता था, आज की दशा उसके बिल्कुल विपरीत है। आज इसके लिए पशु की तो कोई जरूरत ही नहीं समझी जाती, मिलों में लोहे की मशीनों से कई मन तिल एक ही आदमी के द्वारा फोड़ डाले जाते हैं। आज प्रायः हर एक बात में हर जगह ऐसा होता हुआ देखा जाता है जहाँ पैसे से पैसा बटोरा जाता है जो कि एक श्रीमान के यहाँ आकर इकट्ठा हो जाता है और सब भाई बहिन बेकार होकर भूखे मरने लग रहे हैं। इस प्रकार आज का शिल्प आम प्रजा के लिए जीवनोपाय न रहकर जीवन घातक बनता चला जा रहा है। शिल्प को बोलचाल की भाषा में दस्तकारी कहते हैं जिसका अर्थ होता है हाथ से काम करना। परन्तु आज तो वही सारा काम हाथ से न किया जाकर लौह यन्त्रों से किया जा रहा है। जिससे विकिरण तो अधिक मात्रा में होता है और आवश्यक वस्तुएँ भी सुलभ से दुर्लभतर होती चली जा रहीं हैं एवं इसी प्रलोभनवश आज के लोग प्रसन्नतापूर्वक इसी मार्ग को अपना रहे हैं। फिर भी जरा गहराई से सोचकर देखा जावे

तो इसमें देश की महती क्षति हो रही है। उदाहरण के तौर पर, जब कि मुद्रणालय नहीं थे, लोग हस्तलिखित पुस्तकों से काम लेते थे तो प्रायः आदमी लिखने का अभ्यासी था और अपनी पुस्तक को बड़ी सावधानी के साथ रखता था। एक पुस्तक से ही वर्ष - दो वर्ष तक ही नहीं सैकड़ों हजारों वर्षों तक काम निकलता था तथा जो जिस विद्या को पढ़ लेता था उसे अवश्य याद रखता था। आज स्वयं लिखने का तो काम ही उठ गया, जब जरूरत हुई मुद्रणालय से पुस्तक खरीद ली जाती है। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए भिन्न-भिन्न पुस्तकें होनी चाहिये। इतनी ही बात नहीं बल्कि एक विद्यार्थी के पढ़ने के लिए जब तक कि वह पुस्तक को पढ़कर समाप्त करता है उतने समय में उसकी अनेक प्रतियाँ फटकर रद्दी बन जाती हैं एवं उसकी वह विद्या फिर भी पुस्तकस्थ ही रह जाती है। उसे उसका बहुत कम अंश याद हो पाता है सो भी बहुत स्वल्पकालीन परीक्षा पास कर लेने तक के लिये। क्योंकि विचारधारा यह रहती है कि पुस्तक तो है ही, फिर याद रखने की क्या आवश्यकता है ? जब जरूरत होगी पुस्तक को देख लिया जावेगा। पहले जब रेल, मोटर जैसा कोई आम साधन नहीं था तो लोग पैदल चलना जानते थे। हमारे देखने में भी बाज-बाज आदमी ऐसा था कि सुबह से शाम तक साठ पैंसठ मील तक की यात्रा कर लिया करता था। परन्तु जब रेल और मोटरों का आविष्कार हुआ तो लोग पैदल चलना भूल गये। जहाँ भी जाना हुआ कि बैठे रेल में या मोटर में और चल दिये। पैदल चलना एक प्रकार का अपराध समझा जाने लगा। अपने यहां से कहीं पांच मील की दूरी पर दूसरे गाँव जाना हुआ, अपने गाँव से रेल स्टेशन एक-डेढ़ मील दूर है, उधर जिस गांव को जना है वह भी स्टेशन से एक-डेढ़ मील की दूरी पर है फिर भी रेल में बैठ कर चलना। भले ही रेल के आने में एक-डेढ़ घण्टे की देर हो तो मुसाफिर खाने में बैठकर उसकी प्रतीक्षा में लगा देना मगर पैदल चलकर उस गाँव नहीं पहुँचना। भले ही रेल में बैठने की जगह न हो तो हैण्डिल पकड़कर लटकते हुए ही चलना पड़े। जब से साईकिलों का प्रादुर्भाव हुआ तब से तो और भी शोचनीय परिस्थिति हो गयी। शौच को भी जाना हुआ तो साईकिल लेकर चले, मानो चलने के लिए प्रकृति ने पैर दिये ही न हों। मतलब जैसे-जैसे साधन सामग्री की सुलभता होती चली गयी वैसे-वैसे मनुष्य अकर्मण्य होता जाकर प्रत्युत आवश्यकताओं से घिरता जा रहा है और जीवन शान्ति के बदले अशान्तिमय हो गया है।

(६१) व्यापार

व्यापार शब्द का अर्थ होता है किसी चीज को व्यापकता देना यानी आवश्यकताओं से अधिक होने वाली एक जगह की चीज को जहाँ पर उसकी आवश्यकता हो वहाँ पर

पहुँचा देना एवं सब जगह के लोगों के लिए सब चीजों की सहूलियत कर देना ही व्यापार कहलाता है। व्यापार का मतलब जैसा कि आजकल लिया जाने लगा है धन कमाना, सो कभी नहीं हो सकता है। किन्तु जनसाधारण के सम्मुख उसकी आवश्यक चीज को एक सरीखी दर पर उपस्थित करना और उसमें जो कुछ उचित कमीशन कमीशन मिले उस पर अपना जीवन निर्वाह करना ही व्यापार का सच्चा प्रयोजन है। उदाहरण के लिए जैसे हिन्दुस्तान टाइम्स वगैरह दैनिक समाचार-पत्रों के बेचने वाले लोग घूम-घूम कर बेचते हैं। डेढ़ आना या पाँच पैसे जो उन पत्रों का मूल्य निश्चित किया हुआ है ठीक उसी मूल्य पर सबको देते हैं। शाम तक जितने पत्र उनके द्वारा बिके, प्रति पत्र एक पैसे के हिसाब से उनको कमीशन मिल जाया करता है जिससे उन बेचने वालों का गुजारा हो जाता है और पढ़ने वालों को घर बैठे पढ़ने के लिए पत्र मिल जाता है। सीधा पत्रालय से भी पत्र लिया जाये तो भी उन्हें उतने में ही मिलेगा। अतः उसकी विशेष हानि नहीं होती ताकि लेने वाले और बेचने वाले दोनों को सुभीता होता है।

आढ़तिया अपने साहूकार के माल को बाजार भाव से बेचता है या अपने ग्राहक को बाजार से परिश्रम कर माल दिलवाता है एवं लेने वाले और मालदार के बीच में विश्वास का सूत्रधार बनकर रहता है तथा उनसे उचित आढ़त लेकर उस पर अपना निर्वाह करता है तो यह व्यापार है। मगर वही आढ़तिया कहलाने वाला व्यक्ति लोभवश होकर किसी प्रकार का बीच बचाव कर खाने लगता है तो ऐसा करना पाप है, और फिर वह व्यापारी न रह कर चोर कहलाने लायक हो जाता है।

बाजार में माल को हठात् अधिक दर में खरीद कर अपने यहाँ ही इकट्ठा कर रखना, किसी प्रकार की धौंस दिखाकर अपने माल को ऊँची दर से बेचना एवं दूसरे के माल को नीची दर से खरीदने की विचारधारा रखना, किसी एक को वही माल कम दर पर दे देना, किन्तु भोले भाई से उसी के अधिक दाम ले लेना इत्यादि धोखाधड़ीपन व्यापार का कलंक है। हाँ, बाजार में जो माल बिकते-बिकते शेष बच रहा है और मालिक उसे बेचकर अपना पल्ला खलास करना चाहता है ऐसे माल को, कुछ साधारण से कम दर में खरीद कर अपने पास संग्रह कर रखना बुरा नहीं बल्कि अच्छा ही है, ताकि यदि कोई कल को भी उस माल को लेने वाला आवे तो उसे भी आसानी से वह माल उसी साधारण दर पर दिया जा सके। इस प्रकार बाजार की सम्पन्नता बनी रहे।

(६२) उदारता का फल सुमधुर होता है

रामपुर नाम के नगर में एक रघुवरदयाल नाम के सोनपाजी रहते थे। जिनके यहाँ

कृषकों को अन्न देना, जिसे खाकर वे खेती का काम करें और फसल पककर तैयार होने पर मन भर अन्न के बदले में पाँच सेर अधिक मन अन्न के हिसाब से बोहराजी को दे दिया करें, बस यही धन्धा होता था। बोहराजी के दो लड़के थे, एक गौरीशंकर दूसरा राधाकृष्ण। बोहराजी के मरने पर दोनों भाई पृथक्-पृथक् हो गये और अपने-अपने कृषकों को उसी प्रकार अन्न देकर रहने लगे। विक्रम सम्वत् उन्नीस सौ छप्पन की साल में भयंकर दुष्काल पड़ा। बिल्कुल पानी नहीं बरसा। जिससे अन्न का भाव जो बारह आने या दस आने मन का था वह बढ़कर पाँच रुपये मन हो गया। गौरीशंकर ने सोचा कि अब किसानों को बाढ़ी पर अन्न देकर क्यों खोया जावे ? बेचकर रुपये कर लिए जावें। किसानों ने कहा बोहराजी ऐसा न कीजिये, इस दुष्काल के समय में हम लोग खाने के लिये दूसरी जगह कहाँ से लावेंगे ? परन्तु गौरीशंकर ने इस पर कोई विचार नहीं किया। इधर राधाकृष्ण ने विचार किया कि यह अकाल का समय है, लोग अन्न के बिना मर रहे हैं, मेरे पास में अन्न है, यह फिर किस काम में आवेगा ? अतः उसने ढिंढोरा पिटवा दिया कि चाहे वह मेरा किसान हो या कोई और हो, जिसको भी खाने के लिए अन्न चाहिये मेरे यहाँ से ले जावे। यह देख कर गौरीशंकर ने कहा कि राधाकृष्ण बेसमझ है जो कि इस समय अपने बेशकीमती अन्न को इस तरह लुटा रहा है।

गौरीशंकर ने अपने अन्न को बेच कर रुपये खड़े करना शुरू किया किन्तु उसके यहां एक दिन चोरी हो गई तो उसने अपने रुपयों को जमीन में गाड़ रखा। छप्पनिया अकाल धीरे-धीरे समाप्त हो लिया। सत्तावन की साल में प्रकृति की कुछ ऐसी कृपा हुई कि समय-समय पर उचित वर्षा होकर खेती में अनाप-सनाप अन्न पैदा हुआ, जिससे आठ सेर के भाव से बढ़ते-बढ़ते अन्न का भाव रुपये का डेढ़ मन हो लिया। गौरीशंकर ने इस समय अन्न खरीद कर रखने का मौका है यह सोच कर जमीन में से अपने रुपयों को निकालकर देखा तो रुपयों के मिट्टी बन गयी थी। तब क्या करे अपने भाग्य पर रोने लगा। उधर राधाकृष्ण का अन्न जिन्होंने खाया था, प्रसन्न मन से रुपये की एवज में दो मन अन्न ले जाकर उसके यहां जमा कराने लगे जिससे अन्न की टाल लग गई।

(६३) पशु पालन

सुना जाता है कि एक न्यायालय में न्यायाधीश के आगे पशुओं में और मनुष्यों में परस्पर में विवाद छिड़ गया। मनुष्यों का दावा था कि पशुओं की अपेक्षा से हम लोगों का जीवन बहुमूल्य है। पशुओं ने कहा कि ऐसा कैसे माना जा सकता है बल्कि कितनी ही बातों को लेकर हम सब पशुओं का जीवन ही तुम्हारी अपेक्षा से अच्छा है। देखो कि

गजमुक्ता सरीखी कितनी ही बेशकीमती चीजें तुम्हें पशुओं से ही प्राप्त होती हैं। इसी तरह कवि लोग जब कभी तुम्हारी प्रेयसी के रूप का वर्णन करते हैं तो मृगनयनी, गजगामिनी इत्यादि रूप से पशुओं की ही उपमा देकर बताते हैं। बल-पराक्रम भी तुम्हारी अपेक्षा से हम पशुओं का ही प्रशंसा योग्य माना गया हुआ है। इसीलिये जब तुम्हें सम्मान बताया जाता है तो पुरुषसिंह नरशार्दूल वगैरह कह कर पुकारा जाया करता है। और तो क्या, पशु का मृत शरीर भी प्रायः कुछ न कुछ तुम्हारे काम में आता ही है। जैसे कि मृतक पशु के चमड़े के जूते बनते हैं जिन्हें पहिन कर तुम आसानी से अपना मार्ग तय कर पाते हो। तुम्हारा शरीर तो किसी के कुछ भी काम में नहीं आता बल्कि साथ में दस बारह मन लकड़ियां और लगा बारह गज कपड़ा और ले जाता है। इस पर मनुष्य लोग बहुत झेंपे और अपना दावा वापिस उठाने को तैयार हो गये। तब न्यायाधीश बोला कि भाई ! तुम कहते हो सो तो सब ठीक ही है परन्तु एक बात खास है जिसकी वजह से मनुष्य बड़ा और भला गिना जाता है और वह यह कि पशुवर्ग परिश्रमशील हो कर भी वह अपने आपकी रक्षा का प्रबन्ध सुख नहीं कर सकता किन्तु मनुष्य में इस प्रकार की विचारशीलता है कि वह अपनी रक्षा का तथा पशु की रक्षा का भी प्रबन्ध करने में समर्थ होता है।

देखो-एक बुढ़िया थी, जिसके पास एक गाय भी रहती थी। चौमासे के दिन आये तो वर्षा होना शुरू हुई। एक दिन वर्षा ऐसी हुई कि मूसलाधार पानी पड़ने लगा। झड़ी लग गई जिससे लोग घर के बाहर निकलने में असमर्थ थे। रोज बाजार में हरी घास आया करती थी जिसे कि मोल लेकर बुढ़िया अपनी गाय को चरा लिया करती थी। मगर उस दिन बाजार में जब घास नहीं आई तो क्या हो ? पशु को क्या डाला जावे ? बुढ़िया के पास दैव गति से सूखी घास, भूसा भी न थी ताकि वही डालकर पशु को थोड़ा सन्तोष दे लिया जावे। अतः गाय भूखी ही खड़ी रही। उसे भूखी खड़ी देख कर बुढ़िया माता रो पड़ गई। कहने लगी कि हे भगवान ! क्या करूँ ? गौ भूखी है, यह भी तो मेरे ही भाग्य पर है। यह पहले खाले तो बाद में मैं खाऊँगी ऐसा संकल्प कर वह भगवान भगवान कहने लगी। इतने में ही एक घसियारा आया उस बरसते हुये मेह में, और बोला कि माँ जी ! क्या तुम्हें अपनी गाय के लिये घास चाहिये ? अगर हाँ तो यह लो, इतना कहकर घास गाय के आगे डाल दी। बुढ़िया बहुत खुश हुई और बोली बेटा ! बहुत अच्छा किया, ले अपने घास के पैसे ले जा। माँ जी पैसे तो फिर कभी ले जाऊँगा ऐसा कहते हुये घसियारा दौड़ गया सो आज तक नहीं आया। आता भी कहाँ से ? वह कोई घसियारा थोड़े ही था वह तो उस बुढ़िया की पवित्र भावना का ही रूप था।

मतलब यह कि आश्रित के खान-पान का प्रबन्ध करे स्वयं भी भक्षण करना ही मनुष्य

का कर्त्तव्य है जिसमें भी वह आश्रित भी यदि मनुष्य है तो वह तो अपना खाना आप कह कर भी हम से ले सकता है, पशु तो बेचारा स्वयं तो मूक होता है उसकी तो फ्रिक हमें ही करना चाहिये तभी हम मनुष्य कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। उसके करने योग्य परिश्रम तो उस से हम करा लेवें और खाना खिलाने के समय उसे हम भूल जावें यह तो घोर अपराध है।

(६४) अन्याय के धन का दुष्परिणाम

एक दर्जी के दो लड़के थे जो कि एक-एक टोपी रोजाना बनाया करते थे, उनमें से एक जो सन्तोषी था वह तो अपनी टोपी के दो पैसों में से एक पैसा तो खुद खाता था और एक पैसा किसी गरीब को दे देता था। एक रोज दो दिन का भूखा एक आदमी उसके आगे आ खड़ा हुआ, उस दर्जि ने जो टोपी तैयार की थी उसके दो पैसे उसके पास आये तो उनमें से एक पैसा उसने उस पास में खड़े गरीब को दे दिया। गरीब ने उस पैसे के चने ले कर खा लिये और पानी पी लिया। अब उसके दिल में विचार आया कि देखों यह दर्जी का लड़का एक टोपी रोज बना लेता है जिससे दो पैसे रोजाना लेकर अपना जीवन बड़े आनन्द से बिता रहा है। मैं भी ऐसा ही करने लगूँ तो क्यों भूखा मरूँ, ऐसा सोच कर उसके पास टोपी बनाना सीख गया और फिर अपना गुजर अपने आप करने लगा। उसके दिन अच्छी तरह से कटने लगे।

इधर उसी दर्जी का दूसरा लड़का टोपी तैयार कर रोजाना जो दो पैसे कमाता था उनमें से एक पैसा तो खुद खा जाता और एक पैसा रोज बचाकर रखता था उससे चौसठ दिन में उसके पास एक रुपया जुड़ गया। उसने उसे चिट्ठी खेल में लगा दिया संयोगवश चिट्ठी उसी के नाम से उठ गयी, जिससे उसके एक लाख रु० की आमद हुयी ! अब तो उसने सोचा दिन भर परिश्रम करना और दो पैसे रोजाना कमाना इस दर्जी के मनहूस धन्धे में क्या धरा है। छोड़ो इसे और आराम से जीवन बीतने दो। उसके पड़ोस की जमीन में एक गरीब भाई झोपड़ी बना कर रह रहा था। इसने सरकार से उसे खरीद कर वहाँ एक सुन्दर कमरा बनाया और अपने बाप-भाई से अलहदा रहने लगा, शराब पीने लगा, वेश्याएँ नचाने लगा, अपने आप घमण्ड में चूर होकर औरों को तुच्छ समझने लगा। एक रोज वह अपने भाई दर्जी के पास खड़ा था सो उसे अपनी टोपी के दो पैसों में से एक पैसा किसी गरीब को देते देख कर उसके भी विचार आया कि देखों इसने अपने दो पैसों में से ही एक पैसा दे दिया किन्तु मेरे पास इतना पैसा होकर भी मैं किसी को कुछ नहीं दे रहा हूँ। मुझे भी कुछ तो दान करना चाहिये। इतने में इसके सम्मुख एक मस्टण्डा आ खड़ा

हुआ जिसे इसने अपने पाकेट में से निकाल कर पाँच अर्सार्फियाँ दे दी। उन्हें लेकर वह फूल गया कि देखो आज मेरी बड़ी तकदीर चेती। चलो आज तो शराब पीयेंगे और सिनेमा में चलेंगे। वहाँ जाते समय रास्ते में किसी की बहू-बेटी से मजाक करने लगा तो पुलिस ने पकड़ लिया और थाने में भेज दिया जिससे कि कैद कर लिया गया। ठीक है जैसी कमाई का पैसा होता है वह वैसे ही रास्ते में लगा रहता है और उससे मनुष्य की बुद्धि भी वैसी ही हो जाया करती है।

(६५) कर्तव्य और कार्य

शरीर के भरण पोषण के लिए जो किया जाता है ऐसा खाना पीना, सोना, उठना वगैरह कार्य कहलाता है जिसे कि संसारी प्राणी चाह पूर्वक अनायास रूप से किया करता है। जो आत्मोन्नति के लिए प्रयत्न पूर्वक किया जाता है ऐसा भगवद्भजन, परोपकार आदि कर्त्तव्य होता है। कार्य तो इतर प्राणियों की भाँति नामधारी मानव भी लगन के साथ करता है मगर वह कर्त्तव्य को सर्वथा भूले हुए रहता है। उसके विचार में कर्त्तव्य का कोई मूल्य नहीं होता परन्तु वही जब मानवता की ओर ढलता है तो कर्त्तव्य को भी पहिचानने लगता है। यद्यपि उसका चञ्चल मन कर्त्तव्यों की ओर न जाकर उसे कार्यों में लगे रहने के लिए बाध्य करता है फिर भी वह समय निकालकर हठात् अपने मन को कर्त्तव्य के साथ में जोड़ता है। भले ही उसका मन रस्से से बन्धे हुए भूखे बैल की तरह छटपटाता है और वहाँ से भागना चाहता है तो भी उसे रोक कर रखता है। इस तरह धीरे-धीरे अभ्यास करके वह अपने मन को कर्त्तव्यों पर जमाता है तो फिर कर्त्तव्य तो उसके लिए कार्यरूप हो जाते हैं और कार्य कहलाने वाली बातें कर्त्तव्य समझ कर करने योग्य ठहरती हैं। मान लीजिये कि एक चिरकाल का बना हुआ सच्चा साधु है। वह समता वन्दना स्तवनादि आवश्यकों को नित्य ठीक समय पर सरलता के साथ करता रहता है, दिन में एक बार खाना और अपर रात्रि में जमीन पर सो लेना भी उसके लिए बताया गया है। किन्तु यह तो कभी उपवास, कभी बेला, कभी तेला आदि कर जाया करता है। जब देखता है कि अब तो शरीर बिना भोजनादि दिये काम नहीं देता, इसे अब भोजन देना ही होगा, तब कभी देता है। शयन का भी यही हाल होता है कभी कुछ देर के लिए नींद ली तो ली, नहीं तो फिर सारी ही रात्रि भजन-भाव में बिता दी गयी। मतलब कहने का यह कि भोजनादि के बिना भले ही रहा जा सकता है परन्तु भगवद्भजन के बिना रहना किसी भी दशा में ठीक नहीं। इस प्रकार इन्द्रिय एवं मनोनिग्रह रूप वृत्ति जहाँ हो रहती है वहाँ फिर खाना, पीना, सोना, उठना, चलना, फिरना आदि सभी क्रियायें आत्मोन्नति के पथ में गौणरूप से स्वीकार्य

होकर आदर्शरूप बन जाती हैं।

(६६) साधक का कार्य क्षेत्र

भूमितल बहुत विशाल है और इसमें नाना विचारों के आदमी निवास करते हैं, कोई बुरी आदत वाला आदमी है तो कोई कुछ अच्छी आदत वाला। एवं मनुष्य का हिसाब ही कुछ ऐसा है कि यह जैसे की संगति में रहता है तो प्रायः आप भी वैसा ही हो रहता है जिसमें भी अच्छे के पास में रह कर अच्छाई को बहुत कम पकड़ पाता है किन्तु बुरे के पास में होकर बुराई को बहुत शीघ्र ले लेता है जैसे कि उजला कपड़ा कोयलों पर गिरते ही मैला हो जाता है परन्तु फिर वही साबुन पर गिर कर उजला बन जाता हो, सो बात नहीं। उसे उजला बनाने के लिए उसके ऊपर साबुन चुपड़ना होगा और फिर पानी से उसे धोना होगा फिर कहीं वह उजला बन सकेगा। अतः अपने आपको बुराइयों से बचाये रखने के लिए और भलाई को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह अपना निवास भले आदमियों के सहवास में बनावे। उन्हीं के साथ में अपने लेन-देन का संसर्ग स्थापित करे। ऐसे ही स्थानों में अपना आना-जाना भी रखे जहाँ पर कि अधिकतर भले आदमी निवास करते हों। नशेबाज, मांसखोर, व्यसनी, दुराचारी आदमियों का आधिपत्य होने से जहाँ जाने पर अपने भले आचार-विचार में शिथिलता आती दीखे ऐसे स्थानों में जाने-आने का परित्याग कर दें।

(६७) व्यर्थ के पाप पाखण्ड

कहते हुए सुना जाता है कि पेट पापी है इसी के लिए अनेक तरह के अनर्थ करने पड़ते हैं। जब हाथ-पैर हिला डुला कर भी मनुष्य पेट नहीं भर पाता है तो वह चोरी-चकोरी करके भी अपने पेट की ज्वाला को शान्त करना चाहता है, यह ठीक है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर हमारे महर्षियों ने स्थितिकरण अंग का निर्देश किया है। यानी समर्थ धर्मात्माओं को चाहिये कि आजीविका भ्रष्ट लोगों को उनके योग्य आजीविका बताकर उन्हें उत्पथ में जाने से रोकें ताकि देश में विप्लव न होने पावे।

कुछ लोग ऐसे भी हैं कि अपने पास में खाने के लिये अन्न तथा पहनने के लिए कपड़ा अच्छी तादाद में होने पर भी धनवान कहलाना चाहते हैं अतः धन बटोरने के लिये अनेक प्रकार का पापारम्भ करते हुए देखे जा रहे हैं। इस रोग की दवा सन्तोष है, जो कि परिग्रह परिमाण रूप दवाखाने से प्राप्त होती है, परन्तु अधिकांश पाप पाखण्ड तो प्रजा में

ऐसे फैले हुए हैं जिनका हेतु सिर्फ मनोविनोद के और कुछ नहीं है अतः उन्हें हमारे महर्षियों की भाषा में अनर्थदण्ड कहा गया है। जिनको कि रोकने के लिये मन पर थोड़ा सा अंकुश लगाने की जरूरत है एवं उनके रोकने से देश को हानि के बदले बड़ा भारी लाभ है। उन अनर्थदण्डों को न करना और न होने देना भी उपासक का कर्त्तव्य है।

(६८) अनर्थदण्ड के प्रकार

बात की बात में यदि ऐसा कहा जाता है कि देखो हमारे भारतवर्ष में गेहूँ बीस रुपये मन है और सोना सौ रुपये तोले से बिक रहा है परन्तु हम से पन्द्रह बीस कोस दूर पर ही पाकिस्तान आ जाता है जहाँ कि गेहूँ तीस रुपये मन बिक रहा है तो सोना पचासतर रु० तोला पर मिल जाता है। यदि कोई भी व्यक्ति यहाँ से वहाँ तक यातायात की दक्षता प्राप्त कर ले तो उसे कितना लाभ हो। इस बात को सुनते ही कार-व्यापार करने वाले को या किसान को सहसा अनुचित प्रोत्साहन मिल जाता है जिससे कि वह ऐसा करने में प्रवृत्त होकर दोनों देशों में परस्पर विप्लव करने वाला बन सकता है, अतः उपर्युक्त कथन पापोपदेश नाम के अनर्थदण्ड में गिना जाता है। सट्टा फटका करने वाली को लक्ष्य करके तेजी, मन्दी बताना भी इसी में सम्मिलित होता है।

छुरी, कटारी, बरछी, भाला, तलवार वगैरह हथियार बना कर हिंसक पारधी, सांसी, बावरिया आदि को देना सो हिंसा दान नाम का अनर्थदण्ड है। क्योंकि ऐसा करने से वे लोग सहज में ही प्राणियों को मारने लग जा सकते हैं। कसाई, सरीफ, कलार, जुवारी आदि को उधार देना भी इसी में गिना जा सकता है।

बेमतलब के बुरे विचारों को अपने मन में स्थान देना, किसी की हार और किसी की जीत हो जाने आदि के बारे में सोचते रहना; मान लो कि आप घूमने को निकले, रास्ते में दो मल्लों की परस्पर कुस्ती होती देख कर खड़े रह गये और मन में करने लगे कि इनमें से यह लाल लंगोट वाला जीतेगा और पीली लंगोटी वाला हारेगा। अब संयोगवश पीली लंगोटी वाले ने उसे पछाड़ लगा दी तो आपके मन को आघात पहुँचेगा। कहोगे कि अरे यह तो उल्टा होने लग रहा है। इत्यादि रूप से व्यर्थ की मन की चपलता का नाम अपध्यान अनर्थदण्ड है।

जिन बातों में फँस कर मन खुदगर्जी को अपना सकता हो, ऐसी बातों के पढ़ने-सुनने में दिलचस्पी लेना दुःश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

जल वगैरह किसी भी चीज को व्यर्थ बरबाद करना प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड है। जैसे कि आप जा रहे हैं, चलते-चलते पानी की जरूरत हो गई तो सड़क पर की नल

को खोल कर जितना पानी चाहिये ले लिया किन्तु जाते समय नल को खुला छोड़ गये जिससे पानी बिखरता ही रहा। गरमी की मौसम है, रेलगाड़ी में सफर कर रहे हैं बिजली का पंखा लगा हुआ है, हवा खाने के लिये खोल लिया, स्टेशन आया, आप लापरवाही से उतर पड़े, पंखे को खुला रहने दिया यद्यपि डिब्बे में और कोई भी नहीं बैठा है तो पंखा व्यर्थ ही चलता रहेगा कुछ विचार नहीं किया। आप एक गाँव से दूसरे गाँव को जा रहे हैं। रास्ते के इधर-उधर घास खड़ी है किन्तु रास्ता साफ है फिर भी आप घास के ऊपर से उसे कुचलते हुए जा रहे हैं, इसका अर्थ है कि आप लापरवाही से पशुओं की खुराक को बरबाद कर रहे हैं। इत्यादि सब प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहलाता है।

(६९) मानवपन नपा तुला होना चाहिये

मनुष्य जीवन पानी की तरह होता है। पानी बहता न होकर अगर एक ही जगह पड़ा रहे तो सड़ जाये। हाँ, वही बहता होकर भी बगल के दोनों तटों को तोड़ फोड़ कर इधर-उधर तितर बितर हो जाये तो भी शीघ्र ही नष्ट हो रहे। मनुष्य भी निकम्मा हो कर पड़ा रहे तो शोभा नहीं पा सकता। उसे भी कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिये। उचितार्जन और त्यागरूप दोनों तटों के बीच में होकर नदी की भांति बहते रहना चाहिये।

यह तो मानी हुई बात है कि खाने के लिये कमाना भी पड़ता ही है परन्तु कोई यदि विष ही कमाने लगे और उसे ही खाने लगे तो मरेगा ही, जीवित कैसे रह सकेगा। अतः विष का कमाना और खाना छोड़ कर इस तरह से कमाया खाया जाय जिससे कि जीवित रहा जा सके। मतलब यह कि कमाते खाते हुए मनुष्य को भी कम से कम इस बात का ध्यान तो रखना ही चाहिये कि ऐसा करने में उसकी आत्मा प्रत्युत तामसता की ओर तो नहीं लुढ़कती जा रही है ? बल्कि प्रशंसा योग्य बात तो यही कही जावेगी कि कमाना खाना आदि हमारे सभी काम हमें सात्विकता की ओर बढ़ा ले जाने वाले होने चाहिये। हमारे भारत देश के वर्तमान समय के नेता श्रीमान् विनोबा भावे महाशय अपनी बुढ़ापे की अवस्था में भी लोगों को खेती का महत्व बताने के लिये स्वयं कार्य करने थे, उसमें उत्पन्न हुए अन्न से निर्वाह करना कर्त्तव्य समझ कर सादगी से अपना जीवन बिता रहे थे। अगर वे बैठना चाहते तो उनके लिये मोटरों पर मोटरें आकर खड़ी हो सकती थीं मगर फिर भी उन्हें जहाँ जाना होता है पैदल ही जाते थे। वल्लभ भाई पटेल एक रोज अपने कमरे में बैठे हुए कुछ आगन्तुक लोगों से आवश्यक बातें कर रहे थे। इतने में समय हो जाने पर वल्लभ भाई पटेल साहब की लड़की चाय लेकर आई जिसकी कि साड़ी कई जगह से फटी और सिली हुयी थी। अतः उन आगन्तुकों में से एक बोल उठा कि बहन जी आप

इस प्रकार फटी हुई साड़ी कैसे पहन रही हैं ? जवाब मिला कि नई साड़ी किसकी कहाँ से ले आऊँ ? आगन्तुक ने कहा कि बहनजी ! आप यह क्या कह रही हैं ? कुछ समझ में नहीं आता। आप कहें तो एक साड़ी क्या आवे बल्कि यहाँ आकर साड़ियों की टाल लग सकती है। इस पर बहनजी तो क्या बोलती ! सुना अनसुना कर चली गयी। पीछे से पटेल साहब ने कहा कि हमारे यहाँ हाथ से सूत काता जाता है और उसका हाथ से बुना हुआ कपड़ा ही काम में लिया जाता है। वह इतना ही बन पाता है जिससे कि सारे कुटुम्ब का काम किफायतसारी के साथ में चला लिया जा सके। ऐसा सुनकर आगन्तुक महाशय दंग रह गया। सोचने लगा कि ओह ! ऐसा रईस घराने का ऐसा रहन-सहन ! घर में मनचाही चीजें होते हुए भी सिर्फ सादा खाना और सादा पहिनना और सब कांग्रेस के लिये, परार्थ जनता की सेवा के लिये। इसी को कहते हैं अमीरी में गरीबी का अनुभव करते हुए रहना। मानव जीवन हो तो ऐसा ही संतोषमय नपा-तुला होना चाहिये। फैशनबाजी में फँसकर मानव जीवन को बरबाद करना तो अमृत को पैर धोने में खोना है।

(७०) शाकाहारी बनना चाहिये

जिससे शरीर पुष्टि को प्राप्त हो या भूख मिटे उसे आहार कहते हैं। यह मुख्यतया दो भागों में विभक्त होता है। शाकपात और मांस। जब हम पशुओं की ओर निगाह डालते हैं तो दोनों ही तरह के जीव उनमें पाते हैं। गाय, बैल, भैंस, बकरी, घोड़ा, हाथी, हिरण आदि पशु शाकाहारी हैं जो कि उपयोगी तथा शान्त होते हैं परन्तु सिंह, चीता, भालू, भेड़िया आदि पशु मांसाहारी होते हैं जो कि क्रूर एवं अनुपयोगी होते हैं। इनसे मनुष्य सहज में ही दूर रहना चाहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मांसाहार क्रूरता का उत्पन्न करने वाला है किन्तु शाकाहार सौम्यता का सम्पादक। मनुष्य जबकि स्वयं शान्तिप्रिय है अतः उसे मांसाहार से दूर रहकर शाकाहार से ही अपना निर्वाह करना चाहिये। आज हम देख रहे हैं कि हमारे देशवासियों की प्रवृत्ति शाकाहार से उपेक्षित होकर मांसाहार की ओर बढ़ती जा रही है। आज से कुछ दिन पहले जिन जातियों में मांसाहारी व्यक्ति देखने को नहीं मिल रहा था वहीं पर आज बीस पच्चीस फीसदी आदमी मांस के खाने वाले मिल जावेंगे। यह भी हमारे देश के लिए दुर्भाग्य का चिन्ह है जिससे कि लोग अन्नोत्पादन की तरफ विशेष ध्यान न देकर मछलियों के तथा मुर्गियों के अण्डों के उत्पादन की ही कोशिश में लगे हुए हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो देश अन्नोत्पादन का नाम नहीं जानते थे उन देशों में तो अन्न अब कसरत के साथ में उत्पन्न होने लग गया है और जो भारत सदा से अन्नोत्पादन का अभ्यासी रहा है उसी देश के वासी आज यह कहने लगे हैं कि खाने के

लिये अन्न की कमी है अतः मछलियाँ पैदा की जावें। मैं तो कहता हूँ कि इस बेढंगे प्रचार से कहीं ऐसा न हो जावे कि हम लोग अन्नोत्पादन का रहा सहा महत्व भी भूल जावें।

सुना जाता है कि एक बार अरब देश में बहुत भयंकर दुष्काल पड़ा। अन्न मिलना दुर्लभ हो गया अतः वहाँ के उस समय के देश नेता मुहम्मद साहब ने अपनी प्रजा को आपत्काल में मांस खाकर निर्वाह करने को आदेश दे दिया। धीरे-धीरे लोग मांस खाने के आदी बन गये तो उनकी निगाह में अब वह मांस खाना एक सिद्धांत सा ही हो गया। मतलब यह कि एक बार मांस खाने की लत पड़ जाने से मनुष्य उसे छोड़ने के लिये लाचार हो रहता है और अपनी आदतवश वह धीरे-धीरे मनुष्य के मांस को भी खाने लग सकता है। एवं इस दुर्व्यसन का परिणाम बहुत विप्लवकारक हो रहता है। मानव को ही घोर दानवता पर पहुँचा देता है। अतः समझदार को चाहिये कि वह शुरू से ही इससे दूर रहे, केवल शाकाहार पर ही अपना जीवन निर्वाह करे।

(७१) दूध का उपयोग

भोले भाई ही नहीं बल्कि कुछ पढ़े लिखे लोग भी ऐसा कहते हुए पाये जाते हैं कि जो दूध पीता है वह भी तो एक प्रकार से मांस खाने वाला है, क्योंकि दूध मांस से ही होकर आता है, फिर दूध तो पिया जाये और मांस खाना छोड़ा जाए यह व्यर्थ की बात है। उन ऐसा कहने वाले भले आदमियों को जरा सोचना चाहिये कि अन्न भी तो खाद में से पैदा होता है सो क्या अनाज को खाने वाला खाद को भी खा लेता है ? नहीं, क्योंकि खाद के गुण-धर्म कुछ और हैं तो अन्न के गुण-धर्म कुछ और ही। अतः खाद जुदी चीज है तो अन्न उसे जुदी चीज। इसी प्रकार मांस जुदी चीज है और उसी जगह पैदा होने वाला दूध उससे जुदी चीज। मांस तमोगुण समुत्पादक है तो दूध सतोगुण सम्पादक। किसी के मांस को नोचा जावे तो कष्ट होता है किन्तु दूध को अगर न निकाला जावे तो कष्ट देने वाला हो रहता है। मांस उस-उस प्राणी के शरीर का आधारभूत होता है तो दूध किसी के किसी समय कुछ काल तक के लिये। मांस हर समय हर हालत में कीटाणुओं का समुत्पत्ति स्थान होता है तो ताजा दूध कीटाणुओं से रहित, इत्यादि कारणों से मांस अग्राह्य है किन्तु दूध ग्रहण करने योग्य ।

यहाँ पर एक तर्क और भी उठाया जा सकता है कि गाय का दूध निकालने वाला आदमी उसके बच्चे के हक को छीन लेता है। अतः वह ठीक नहीं करता, परन्तु इस ऐसा कहने वाले को जरा सोचना चाहिये कि अगर गाय के दूध पर सर्वथा उसके बच्चे का ही अधिकार है, वह उसी के हक की चीज है तो फिर जो उस गाय को पालता पोषता है

उसका भी कोई हक है या नहीं। यदि कहा जावे कि कुछ नहीं, तो फिर वह उसे क्यों पालता-पोषता है ? हाँ, जब तक कि बच्चा घास खाना न सीख जावे तब तक उसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। बाद में भी सारा का सारा ही न निकालकर कुछ दूध उसके लिये भी छोड़ते रहना चाहिए।

(७२) नशेबाजी से दूर हो

दुनियाँ की चीजों में से कुछ अन्न आदि चीजें तो ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि के साथ में नहीं होकर वे सब केवल शरीर के सम्पोषण के लिये ही खाये जाते हैं। ब्राह्मी, शंखपुष्पी आदि जड़ी बूटियाँ ऐसी हैं जो मनुष्य की बुद्धि को निकाने पर रखकर उसके बढ़ाने में सहायक होती हैं परन्तु भाग, तम्बाकू, चरस, गांजा, सुलफा, वगैरह वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो उत्तेजना देकर मनुष्य की बुद्धि को बिकल बना डालती हैं। जिनके सेवन करने से काम वासना उद्दीप्त होती है। अतः ऐसी चीजों को कामुक लोग पहले तो शौकिया रूप से सेवन करते हैं मगर जिस चीज का उन्हें नशा करने की आदत हो जाती है वह चीज यदि नहीं मिले तो विकल हो उठते हैं। या तो यों आदमी तो नशे का इतना आदी हो जाता है कि उस नशे की धुन में अपने आपको भी भूलकर न करने लायक घोर अनर्थ करने को भी उतारू हो जाता है।

एक बार की बात है कि एक अफीमची अपनी औरत को ले आने के लिए ससुराल को गया। वहाँ से अपनी प्राणप्यारी को लेकर वापस लौटा तो अपनी अफीम की डिबिया को वहीं भूल कर आ गया। रास्ते में जब उसके अफीम खाने का समय आया, देखे तो अफीम की डिबिया है नहीं। यह देखकर वह बड़ी चिन्ता में पड़ गया और वहीं पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। औरत बोली कोई बात नहीं, गाँव अब थोड़ी ही दूर रहा है अभी चले चलते हैं। मर्द ने कहा मेरे से तो अब बिना अफीम के एक पग भी नहीं धरा जावेगा। स्त्री ने कहा यहाँ जंगल में अफीम कहाँ रखी है ? फिर भी अफीमची ने नहीं माना। स्त्री बड़ी उलझन में पड़ी और इधर उधर देखने लगी तो एक कुटिया दीख पड़ी, वहाँ गई तो उसमें एक आदमी बैठा पाया। जाकर बोली कि महाशय ! क्या आपके पास में कुछ अफीम मिल सकती है ? मेरे स्वामी अफीम खाया करते हैं, उनके पास अफीम नहीं रही है। वह बोला अफीम है तो सही मगर वह मुफ्त में थोड़े ही मिलती है। स्त्री ने कहा आप जो उचित समझें वह मूल्य ले लीजिये और एक खुराक अफीम की दे दीजिये। कुटीचर ने कहा अफीम की एक खुराक का मूल्य एक बार एकान्तवास। यह सुनते ही स्त्री दंग रह गयी और अपने स्वामी के पास लौटकर आयी तो स्वामी ने फिर वही बात कही कि मैं क्या

करूँ ? मैं तो अफीम के पीछे विवश हूँ अतः जैसे हो वैसे ही मुझे अफीम लाकर दे तभी कुछ आगे की सूझेगी।

बन्धुओ ! देखा आपने अफीमची का हाल ! अफीमची का ही नहीं सभी तरह के नशेबाजों का ऐसा ही हिसाब है ! कोई कैसा भी नेशा करने वाला क्यों न हो उसकी चेतना तो उस नशे के अधीन हुआ करती है। कम से कम तम्बाखू बीड़ी पीने वाले को ही ले लीजिये। उनके पास भी समय पर तम्बाखू न होगी तो वह भी चाहे जिससे तम्बाखू माँगकर पीना चाहेगा। इसीलिए कहावत भी प्रसिद्ध है कि -"अगर नहीं माँगना जानता भीख, तो तम्बाखू पीना सीख" तमाखू पीने वाला स्वयं यह अनुभव करता है कि इसकी ही वजह से मुझे खांसी, श्वासादि अनेक रोग हो रहे हैं, फिर भी वह उसे छोड़ने के लिये लाचार हो रहता है। मतलब यह कि नेशबाज आदमी धर्म, धन और शरीर तीनों को ही खो डालता है इसीलिये हमारे महर्षियों ने इसे दुर्व्यसन बताया है। उन सब नशों में शराब का नशा सबसे अधिक बुरा है। गुड़, महुआ आदि चीजों को सड़ाकर उनसे शराब बनायी जाती है जो कि बहुत से त्रस जीवों का कलेवरमय हुआ करती है अतः उसका पीने वाला प्रथम तो बहुत से त्रस जीवों की हिंसा का पातकी बनता है फिर शराब की लत भी ऐसी बुरी होती है कि जिसमें भी वह पड़ गई, छूटना दुश्वास हो जाता है, शराब के नशे में चूर हुआ मनुष्य पागल ही क्या बाज-बाज मौके पर तो बिल्कुल बे-भाव ही हो रहता है। इस शराबखोरी में पड़कर कितने ही भले घराने भी बिगड़कर बरबाद हो गये हैं। शराब पीये हुए के मुँह से ऐसी बुरी दुर्गन्ध आती है कि कोई भी भला आदमी उसके पासे बैठना नहीं चाहता। शराब पीना या और भी किसी प्रकार का नशा करना व्यभिचार का तो मूल सूत्र है। साथ ही वह माँस खाने की प्रेरणा देता है, माँस खाने वाला शिकार करने को बाध्य होता है। शिकार करना चोरी या दगेबाजी से खाली नहीं है। हठात् किसी के प्राणधन को अपहरण करना तो सबसे बड़ी चोरी है। इस प्रकार शराबखोरी सब तरह के अनर्थों का प्रधान कारण है ऐसा सोचकर समझदारों को इससे सर्वथा दूर ही रहना चाहिये।

(७३) रात्रि में भोजन करना मनुष्य के लिए अप्राकृतिक है

शारीरिक शास्त्र जो कि मनुष्य स्वास्थ्य को दृष्टि में रखकर बना है उसका कहना है कि दिन में पित्त प्रधान रहता है तो रात्रि में कफ। एवं भोजन को पचाना पित्त का कार्य है अतः मनुष्य को दिन में ही भोजन करना चाहिये। इसलिये वैद्य लोग अपने रोगी को लंघन कराने के अनन्तर जो पथ्य देते हैं वह रात्रि में कभी भी न देकर दिन में ही देते हैं। दिन में भी सूर्योदय से एक डेढ़ घण्टे के बाद से लगाकर मध्याह्न के बारह बजे से पहले

ही पथ्य देने का आदेश करते हैं क्योंकि पित्त का समुत्तम काल यही है। हाँ एक बार का योग्य रीति से खाया हुआ अन्न अधिक से अधिक छः घण्टे में पचकर फिर दुबारा खाने की प्रेरणा देता है। यानी दस बारह बजे के बीच में जिस आदमी ने भोजन किया है उसे चार छः बजे के बीच में फिर खाने की आवश्यकता हो जाती है। परन्तु अपराह्न में जो किया जावे वह स्वल्प मात्रा में होना चाहिये ताकि यह कफ का काल आने से पहले पचा लिया जा सके। ऐसी हमें हमारे वैद्यक शास्त्र की आज्ञा है।

रात्रि में कफ प्रधान, काम सेवन का और शयन का समय आ जाता है सो काम सेवन भी भोजनानन्तर में नहीं किन्तु भोजन का परिपाक होने पर करना ठीक होता है तथा शयन करना, नींद लेना तो भोजनानन्तर में बिल्कुल ही निषिद्ध कहा गया है। दिन में भी जब किसी रोगी को पथ्य दिया जाता है तो उसे उस अन्न के पचने से नींद आने लगती है फिर भी हमारे प्राणाचार्यों का कहना होता है कि अभी इसे नींद नहीं लेने देना अन्यथा तो यह खाया हुआ अन्न जहर बन जायेगा।

दिन भर काम करके थके हुए मनुष्य को अपनी थकान दूर करने के लिए कम से कम छः घण्टे नींद लेना भी जरूरी माना गया है। अतः सूर्यास्त के समय सन्ध्या वन्दन करने के अनन्तर कुछ समय हास्य विनोद में बिताकर फिर रात्रि के दस बजे से लेकर चार बजे रात तक नींद लेनी चाहिये। चार बजे के बाद प्रातःकाल में अपने शरीर रूप यन्त्र के पुरजों को संशोधन कर साफ सुथरा बनाने के लिए मलमूत्र का त्याग कर शौच जाना और स्नान करना भी जरूरी हो जाता है।

फलितार्थ यह निकला कि दिन के नौ दस बजे से लेकर दिन में चार पाँच बजे तक का समय मनुष्य के लिये भोजन के योग्य होता है। उसमें त्यागी, ब्रह्मचारियों के लिए तो महर्षियों ने एक ही बार भोजन करने का आदेश दिया है। गृहस्थ लोग पूर्वाह्ण में और अपराह्ण में इस तरह दो बार भोजन कर सकते हैं किन्तु जो लोग रात दिन में कई बार भोजन करते हैं, जब चाहा तभी खा लिया ऐसी आदत वाले होते हैं वे लोग अपने मनबहलेपन की वजह से मनुष्यता को भूले हुए हैं ऐसा हमारे महापुरुषों का कहना है एवं जो लोग रात में भी खाने से ही धंधा रखते हैं उनमें और निशाचरों में तो फिर कोई भी अन्तर नहीं रह जाता है।

(७४) रात्रि में भोजन करने से हानि

अकबर बादशाह कौम से मुसलमान थे किन्तु हिन्दुओं के साथ भी उनका अच्छा सम्पर्क था। उनका प्रधानमंत्री बीरबल भी ब्राह्मण था। उनके पास और भी भले-भले हिन्दू

रहते थे। एक दिन, दिन में खाने वाले किसी विचारशील हिन्दू आदमी ने उनसे कहा कि हुजूर ! आप रात्रि में खाना खाते हैं यह ठीक नहीं कर रहे हैं। बादशाह बोले कि क्यों क्या हानि है ? जवाब मिला कि हानि तो बहुत है। सबसे पहली हानि तो यही है कि रात्रि में अंधकार की वजह से भोजन में क्या है और क्या नहीं है, यही ठीक नहीं पता चला करता है। तब बादशाह बोले कि दीपक के उजाले में अच्छी तरह से देखकर खाया जाये तो फिर क्या बात रह जाती है ? जवाब मिला कि बात तो और भी है परन्तु अभी आप इतना ही करें कि दीपक के प्रकाश में अच्छी तरह से देखकर ही खाया करें। अब बादशाह रोज ऐसा ही करने लगे । एक रोज सजा हुआ थाल बादशाह के आगे टेबिल पर लाकर रखा गया तो बादशाह बोले कि दीपक लाओ तब देखकर खाया जायेगा। दीपक आया और देखा गया तो भोजन में घी और मीठे की वजह से जहरीली कीड़ियों का नाल लगा हुआ है। बादशाह को विचार आया कि अब नियम किया जाए कि आगे के लिए रात्रि को न खाकर दिन में ही खाया जाये यही बात अच्छी है।

हाँ ! यह कहा जा सकता है कि वह समय कुछ और था। आज तो स्थान-स्थान पर बिजली की रोशनी होती है जिसमें अच्छी तरह देखकर खा लिया जा सकता है, परन्तु ऐसा कहने वालों को इतना भी तो सोचना चाहिये कि बिजली के प्रकाश में भी पतंगे, मच्छर वगैरह आकर भोजन में पड़ेंगे। जिनमें कितने ही मच्छर ऐसे भी होते हैं जिनके कि खाने में आ जाने से अनेक प्रकार के भयंकर रोग हो जाते हैं।

(७५) पर्यालोचन

मनुष्य विस्मरणशील होता है और उसके जुम्मे अपने शरीर को सँभाल कर रखना, बाल बच्चों का लालन-पालन करना, अभ्यागतों को सत्कार करना, बुजुर्गों की टहल करना, दीन-दुःखियों की सेवा करना, मित्र दोस्तों के साथ प्रेम से सम्भाषण करना, भगवद्भजन करना आदि अनेक तरह के कार्य लगे हुए होते हैं। उनमें से कौन-सा कार्य किस प्रकार से आज मुझे सम्पादित करना चाहिये, कौन से कार्य सम्पादित करने में मैंने क्या गल्ती खाई है, कहीं मैंने मेरे तन, मन, वचन और धन के घमण्ड में आकर कोई न करने योग्य अनुचित बर्ताव तो नहीं कर डाला है, मेरे रहन-सहन में किसी गरीब भाई का किसी भी प्रकार का कोई नुकसान तो कहीं नहीं हुआ है, तथा किसी भी बुजुर्ग का मेरे से कोई अविनय तो नहीं बन पड़ा है, इस प्रकार से सोच कर देखना। अगर कोई भी तरह की कुचेष्टा बन गयी हो तो भगवान को स्मरण कर उनके सम्मुख पश्चाताप करना और आगे के लिए कभी नहीं होने देने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये। प्रतिदिन सुबह और

सायंकाल को इस प्रकार सँभाल करते रहने से मनुष्य की बुद्धि निर्मल बनी रहती है और वह सान पर चढ़ा कर तैयार की हुई तलवार के समान तीखी बनकर अपने करने योग्य कार्य को आसानी के साथ कर पा सकती है।

(७६) उपवास का महत्व

यह कोई नई बात नहीं है कि शरीर को स्थिर करने के लिए आहार की खास आवश्यकता होती है। जो कुछ हम भोजन करते हैं उसका रस रक्तादि बन कर हमारे शरीर को बनाये रखने में सहायक होते हैं। परन्तु वह भोजन भी प्राकृतिक और मितमात्रा में तथा समुचित रीति से खाया जाना चाहिये, नहीं तो वही भोजन लाभ के स्थान पर हानिकारक हो रहता है। भोजन शरीर का साधन है इसीलिये यह शरीरधारी भी भोजन का आदी बना है और इसीलिये हो सके जहाँ तक प्रायः से प्रायः स्वादिष्ट रुचिकर भोजन बनाकर खाया करता है। भोजन रुचिकर होने से कभी-कभी अत्यधिक मात्रा में भी खा लिया जाता है जिससे कि अजीर्ण होकर शरीर के रोगी बनने का अन्देशा रहता है। अतः उस अजीर्ण को दूर करने के लिए उपवास करने की अर्थात् भोजन न करने की आवश्यकता होती है।

हाँ, उपवास करने में जिस प्रकार भोजन के त्याग करने की जरूरत होती है उसी प्रकार अपने मन और इन्द्रियों को भी वश में रखने की आवश्यकता पड़ती है, मन को वश में किये बिना जो भोजन त्याग कर दिया जाता अर्थात् खाना नहीं खाया जाता वह लंघन कहलाता है और लंघन से कभी-कभी लाभ के स्थान पर हानि हो जाया करती है।

एक समय एक मोटी बुद्धि का आदमी अपनी औरत को लिवा लाने के लिए ससुराल में गया। वहाँ उसके लिए अच्छे पदार्थ खाने के लिए बने तो स्वादिष्ट समझ कर उन्हें वह खूब खा गया। अतः अजीर्ण हो जाने से वैद्य ने उससे कहा, कम से कम आज भर के लिए तुम खाना मत खाओ ताकि तुम्हारा अजीर्ण पच कर ठीक हो जावे। इस पर उसने भोजन नहीं किया, मगर उसका मन भोजन के लिए ललचाता रहा। अतः वह दिन भर तो ससुराल वालों की शर्म खाकर बिना खाये रहा । किन्तु जब रात हुयी तो सोचा कि कुछ न कुछ तो खाना ही चाहिये, नहीं तो फिर यह पहाड़ जैसी लम्बी रात कैसे कटेगी ? इधर-उधर देखा तो अपनी खटिया के नीचे चावलों की भरी थरिया रखी थी, उसमें से एक मुट्ठी भर कर मुंह में ले गया। इतने ही में घर वाली आ गयी तो अब उन्हें चबावे कैसे ? उसके सामने शर्म के मारे वह मुँह फुलाये रहा। उसे ऐसी हालत में देख कर उसकी घरवाली ने अपनी माँ को आवाज दी। दोनों गौर से देख कर कहने लगीं कि इनको तो

कुछ रोग हो गया है जिससे गाल फूल गये हैं और मुँह खोला नहीं जाता है। डॉक्टर को बुलाया गया तो यथार्थ बात को समझते हुए भी अपनी डबल फीस अदा करने के विचार से उसने उसके गाल पर नश्तर लगाया और नखचूटी से एक चावल खून में भिगोकर निकाला तथा दिखाते हुए कहा कि इनके तो अजीर्ण के कोप से मुँह में कीड़े पड़ गये हैं। अतः तुम दोनों बाहर चली जाओ, मुझे इन कीड़ों को धीरे-धीरे निकालने दो। माँ बेटी अफसोस करती हुयीं चली गयीं तो डॉक्टर ने कहा कि कमअक्ल ! अब तो इन चावलों को थूक दे, अगर भूखा नहीं रहा जाता है तो अब तुझे दूध पिला दिया जावेगा। उसने मिट्टी भरे सकोरे में थूक दिया। डॉक्टर ने उन पर और मिट्टी डाल दी और उन दोनों औरतों को बुला कर कहा-जाओ इन विषैले कीड़ों को गढ़ा खोद कर दबा दो तथा इन्हें दूध पिलो।

मतलब इन सबका यह कि बिना मन को वश में किये जो उपवास किया जाता है उससे ऐसा ही दुरुपयोग होता है। हाँ, मन और इन्द्रियों को वश में रखकर जो उपवास किया जाता है तो उससे आत्मबल बढ़ता है। हमारे भारत के हृदय सम्राट महात्मा गाँधीजी ने तो उपवास के बल पर बड़े-बड़े कार्य कर बताये थे। उनके सत्याग्रह, असहयोग और उपवास ये तीन ही खास प्रयोग थे। हमारे अर्थ-शास्त्रों में भी उपवास की बड़ी ही महिमा बतायी गयी है। साधु महात्मा लोगों के करने योग्य तपश्चरण में तो सबसे पहला नम्बर उपवास को ही रखा गया है किन्तु गृहस्थों को भी कम से कम एक सप्ताह में एक उपवास अवश्य करने के लिए कहा गया है।

(७७) दान करना

दान का सीधा-सा मतलब है अपने तन, मन और धन से औरों की सहायता करना। मनुष्य जीवन ही ऐसा है कि किसी न किसी रूप में दूसरे से सहायता लिए बिना उसका कुछ भी काम नहीं बन सकता है। जब कि औरों से सहायता लिए बिना निर्वाह नहीं तो फिर औरों की सहायता करना भी उचित ही है। अतः दान करना परमाश्यक है। परन्तु इसके साथ यह बात भी सही है कि यह मनुष्य लेना तो जानता है और देने में संकोच किया करता है।

आम तौर पर देखने में आता है कि मनुष्य दोनों हाथों से कमाया करता है मगर खाता एक हाथ से है, इसका मतलब यही कि मनुष्य काम-धन्धे में अपने दोनों हाथों पर भरोसा रखे, अपने कर्त्तव्य कार्य को दूसरे से करवा लेने का विचार अपने मन में कभी न आने दे। प्रकृति ने जब खुद को दो हाथ दिये हैं तो फिर क्यों व्यर्थ ही दूसरे के सहारे को टटोलता रहे ? हरेक समुचित काम को सबसे पहले अपने आप खुद कर बनाने को तैयार

रहे। हाँ, जो अपने दोनों हाथों की कमाई है उसमें से एक हाथ की कमाई को तो अपने शरीर के निर्वाह में और कुटुम्ब के पालन-पोषण में खर्च करे। शेष एक हाथ की कमाई को परमार्थ के लिए बचाकर रखे, उसे परोपकार के कार्यों में खर्च करे। लेने के स्थान पर किसी को कुछ देना सीखे ऐसा हमारे बुजुर्गों का कहना है।

हर एक को चाहिये कि घर पर आये हुए आत्मा को होनहार परमात्मा मानकर उसका सत्कार करे और कुछ नहीं तो कम से कम मिष्ट सम्भाषण पूर्वक अपने पास बैठने को उसे जगह देवे। भूखे को रोटी खिलाकर प्यासे को पानी पिला दे। भूले भटके हुए को सही रास्ता बतला दे।

(७८) दान अपनी कमाई में से देना

किसी एक गाँव का राजा मर जाने से उसकी एवज में उसके बेटे का राजतिलक होने लगा। जिसकी खुशी में वहाँ उसके दान देना शुरू किया जिसे सुन कर बहुत से आशावान् लोग वहाँ पर जमा हो गये। उन्हीं में एक पढ़ा लिखा समझदार पण्डित भी था जिसने होनहार राजा की प्रशंसा में कुछ श्लोक पढ़कर सुनाए। राजा बड़ा खुश हुआ और बोला कि तुमको जो चाहिये सो लो। पण्डित ने कहा मैं अभी आप से क्या लूं ? फिर कभी देखा जावेगा। राजा ने कहा कि कुछ तो अभी भी तुमको मुझ से लेना ही चाहिये। पण्डित बोला की यदि आप देना ही चाहते हैं तो एक रुपया मुझे दे दीजिये मगर वह आपका अपनी कमाई का होना चाहिये। इसको सुनकर और सब लोग तो हँसने लगे कि इसने राजा से क्या माँगा ? कुछ नहीं माँगा । परन्तु राजा ने सोचा कि इसने तो मुझ से बहुत बड़ा दान माँग लिया क्योंकि मेरे पास इस समय मेरा कमाया हुआ तो कुछ भी नहीं है। यह जो राज्य-सम्पत्ति है वह तो या तो पिताजी की देन है या यों कहो कि इस पर आम प्रजा का अधिकार है। मेरा इसमें क्या है ? अतः मैं मेहनत से कमाकर लाकर एक रुपया इसे दूँ, मैं उसके बाद ही इस राज्य-सिंहासन पर बैठूंगा। ऐसा कह वह कोई काम करने की तलाश में गाँव से चला गया। इसे राजपुत्र या होनहार राजा समझ कर जिसके भी पास में वह गया तो उसका सम्मान खूब ही हुआ मगर उससे कोई भी काम कैसे लेवे और क्या काम लेवे ? अतः बहुत देर तक चक्कर काटते-काटते वह एक लुहार की दुकान पर पहुँचा। लुहार लोहा गरम करके उसे घन से कूटने को था जो कि अकेला था, दूसरे किसी सहकारी की प्रतीक्षा में था। उसके पास जाकर बोला-कुछ काम हो तो बताओ ? तब लुहार बोला-आओ मेरे साथ इस लोहे पर घन बजो और शाम तक ऐसा करो तो तुम्हें एक रुपया मिल जावेगा। राजपुत्र ने सोचा ठीक है परन्तु जहाँ उसने घन को उठाकर एक

दो बार चलाया तो उसका शरीर पसीने में तर-बतर हो गया। राजपुत्र बोला कि बाबा यह काम तो बड़ा कठिन है, जवाब मिला कि नहीं तो फिर रुपया कहीं ऐसे ही थोड़े ही मिल जाता है ! खून का पानी हो जाता है तब कहीं पैसा देखने को मिलता है। राजपुत्र सुन कर दंग रह गया परन्तु और करता ही क्या ? लाचार था। जैसे-तैसे करके दिन भर घन बजाकर रुपया लिया तथापि समझ जरूर गया कि आम गरीब जनता किस प्रकार परिश्रम करके पेट पालती है। हम सरीखे राजघराने वालों को इसका बिल्कुल भी पता नहीं है। अगर वह पण्डित ऐसा दान देने को न कहता तो मुझे भी क्या पता था कि प्रजा को अपना, अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करने के लिए किस प्रकार कष्ट सहन करना पड़ता है ? अस्तु, राजपुत्र वह रुपया ले जाकर पण्डित को देते हुए कहने लगा कि महाशय जी धन्य हैं, आपने मेरी आँखें खोल दीं। पण्डित बोला, प्रभो ! मुझे यह एक रुपया देकर उसके फलस्वरूप अब आप सच्चे राजा हो रहेंगे।

(७९) दान का सही तरीका

आपने "राजस्थान इतिहास" देखा होगा। वहाँ महान् उदयन का वृत्तान्त लिखा हुआ है। वह मननशील विद्वान था, परन्तु दरिद्रता के कारण उसके पैर जमीन पर नहीं जम सके थे। अतः वह नंगे पैर मारवाड़ के रेतीले मैदान को पार करते हुए बड़े कष्ट के साथ सिद्धपुर पाटन तक पहुँच पाया। उसने दो दिन से कुछ भी नहीं खाया था और शरीर पर मैले तथा फटे कपड़ों को पहने हुए था। वह वहाँ पहुँच तो गया परन्तु वहाँ भी उसे कौन पूछने वाला था। उसका नाते रिश्तेदार या परिचित तो था ही नहीं जो कि उसके सुख-दुःख की उससे पूछता। थोड़ी देर बाद वह एक जैन धर्मस्थान के द्वार पर जा बैठा। यद्यपि वहाँ पर धर्म साधन करने के लिए अनेक लोग आते थे और ईश्वरोपासना तथा धर्मोपदेश सुन करके जा रहे थे जिनमें कितने ही श्रीमान् लोग भी थे जिनके गले में सोने के आभूषण और शीश पर सुनहले कैंाम की पगड़ियाँ चमक रही थी, जो कि अपनी नामवरी के लिये तिजोरी खोलकर पैसे को पानी की भाँति बहाने वाले थे मगर गरीब मुसाफिर की तरफ कौन देखने वाला था ?

हाँ, थोड़ी देर बाद एक बहनजी आयीं, जिनका नाम लक्ष्मीबाई था। वह यथा नाम तथा गुण वाली थी। उसने उस दिन उदयन को विकल दशा में बैठे हुए देखा तो पूछा कि यहाँ पर किस लिये आये हो ? जवाब मिला कि रोजी की तलाश में। बहनजी ने फिर पूछा कि क्या तुम्हारी जान पहचान का यहाँ पर कोई है ? जवाब मिला कि नहीं। क्षण भर विचार कर बहनजी ने कहा कि भाईजी फिर कैसे काम चलेगा ? बिना जान-पहचान के

तो कोई पास में भी नहीं बैठने देता है। उदयन ने कहा बहनजी ! कोई बात नहीं, मैं तो अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर भरोसा करके यहाँ पर आ गया हूँ। अगर कोई अच्छा काम मिल गया तब तो अपने दो हाथ बनाऊँगा, नहीं तो भूखा रहकर मर मिटूँगा। इतना सुनते ही लक्ष्मीबाई बोली कि अभी भोजन किया है या नहीं ? इस पर उदयन बोला कि बहनजी मुझे भोजन किये हुए दो रोज हो लिए हैं और न जाने कितने दिन और ऐसे ही निकल जावेंगे। परन्तु भूख की चिन्ता नहीं है अगर भूख की परवाह करता तो फिर मैं मेरे गाँव से इतनी दूर तक चल कर भी कैसे आ पाता ?

यह सुनते ही लक्ष्मीबाई का हृदय हिल गया, वह बोली कि तुम मेरे साथ चलो, भाई ! भोजन तो करो फिर जैसा कुछ होगा देखा जावेगा। उदयन ने कहा बहनजी, आप तो ठीक ही कह रही हैं, मगर मैं आपके साथ कैसे चलूँ ? मैंने आपके यहाँ का कोई भी कार्य तो किया नहीं, फिर आपके साथ मुफ्त की रोटी खाने को कैसे चल सकता हूँ ? लक्ष्मीबाई बोली तुम ठीक कह रहे हो, मगर तुमने मुझे बहन कहा है और मैंने तुम को भाई, फिर भाई के लिए बहन की रोटी मुफ्त की नहीं होती किन्तु अभूतपूर्व भ्रातृ-स्नेह के उपहार स्वरूप होती है। अतः उसके खाने में कोई दोष नहीं है। तुम भले ही किसी भी क़ौम के, कोई भी क्यों न हो मगर धार्मिकता के नाते से जब कि तुम मेरे भाई हो और मैं तुम्हारी बहन फिर संकोच कैसा ? तुम को तो सहर्ष मेरा कहना स्वीकार कर लेना चाहिये, अन्यथा तो फिर मेरे दिल को बड़ी ठेस लगेगी। भाई साहब ! अतः कृपा कर मेरा कहना स्वीकार कीजिये। और मेरे साथ चलिये।

लक्ष्मीबाई के इस तरह के स्वाभाविक सरल निवेदन का उदयन के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अतः वह उसके साथ हो लिया। घर जाकर लक्ष्मीबाई ने उदयन को प्रेम और आदर के साथ भोजन कराया तथा अपने पतिदेव से कह कर उसके योग्य कुछ समुचित काम भी उसे दिलवा दिया, जिसे पाकर उन्नति करते हुए वह धीरे-धीरे चल कर एक दिन वहीं सिद्धपुर पाटन के महाराज का महामन्त्री बन गया। जिसने प्रजा के नैतिक स्तर को ऊँचा उठा कर उसे सन्मार्गगामिनी बनाया।

मतलब यह कि वही सच्चा दान होता है जो कि दाता के आत्मिक भावों से ओतप्रोत हो एवं जिसको दिया जावे उसकी आत्मा को भी उन्नत बनाने वाला हो तथा विश्वभर के लिए आदर्श मार्ग का सूचक हो।

(८०) बड़ा दान

यद्यपि आमतौर पर लोग एक रुपया देने वाले की अपेक्षा पाँच रुपये देने वाले को

और पाँच देने वाले की अपेक्षा पचास तथा पांच सौ देने वाले को महान् दानी कहकर उसके दान की बड़ाई किया करते हैं। मगर समझदार लोगों की निगाह में ऐसी बात नहीं है क्योंकि एक आदमी करोड़पति, अरबपति जिसकी अपने खर्च के बाद भी हजारों रुपये रोजाना की आमदनी है वह आड़े हाथ भी किसी को यदि सौ रुपये दे देता है तो उसके लिए ऐसा करना कौन सी बड़ी बात है।

हाँ, कोई गरीब भाई दिन भर मेहनत मजदूरी करके बड़ी मुश्किल से कहीं अपना पेट पाल पाता है वह आदमी अपनी उन दो रोटियों में से आधी रोटी भी किसी भूखे को देता है तो वह उसका दान बड़ा दान है, उसकी बड़ी महिमा है। वह महाफल का दाता होता है।

एक समय की बात है, मैं कलकत्ते में काम किया करता था। वहाँ कांग्रेस का सालाना जलसा हुआ, जिसके अन्त में महात्मा गाँधीजी ने कांग्रेस की सहायता करने के लिये आम जनता के सम्मुख अपील रखी। जिसको लेकर किसी मकानदार ने अपना एक मकान कांग्रेस को दिया तो किसी धनवान ने लाख रुपये, किसी ने पचास हजार रुपये इत्यादि। इतने में एक खोचा-मुटिया आया और बोला - महात्मा जी ! मैं भी ये आठ आने पैसे जो कि दिन भर मुटिया मजदूरी करने से मुझे प्राप्त हुये हैं, देश सेवार्थ कांग्रेस के लिये अर्पण करता हूँ। क्या करूँ अधिक देने में असमर्थ हूँ, रोज मजदूरी करता हूँ और पेट पालता हूँ मगर मैंने यह सोचकर कि देश सेवा के कार्य में मुझे भी शामिल होना चाहिये, यह आज की कमाई कांग्रेस को भेंट कर रहा हूँ। मैं आज उपवास से रह लूँगा और क्या कर सकता हूँ ?

इस पर गांधीजी ने उस भाई की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि हमारे देश में जब ऐसे त्यागी पुरुष विद्यमान है तो फिर हमारे देश के स्वतन्त्र होने में अब देर नहीं समझना चाहिये। हमारे पुराने साहित्य में भी एक कथा आती है कि एक मेहनतिया था जो कि मेहनत करके उसके फल स्वरूप कुछ अनाज लाया और लाकर उसने उसे घरवाली को दिया ताकि वह उसे साफ सुथरा करके पीस कर उसकी रोटियाँ बनाले। औरत ने भी ऐसा ही किया। उसने उसकी मोटी-मोटी तीन रोटियाँ बनाई क्योंकि उसके एक छोटा बच्चा भी था। अतः उसने सोचा कि हम तीनों एक एक रोटी खाकर पानी पी लेवेंगे। रोटियाँ बन कर जब तैयार हुई तो मरद के दिल में विचार आया कि यह कमाना और खाना तो सदा से लगा ही हुआ है और जब तक जिन्दगी है लगा ही रहेगा। हमारे बुजुर्गों ने बाताया है कि कमा खाने वाले को कुछ परार्थ भी देना चाहिये तो आज तो फिर यह मेरे हिस्से की रोटी किसी अन्य भूखे को ही दे दूँ, मैं आज भूखा ही रह लूँगा। इतने ही में उसे एक मासोपवासी क्षीणकाय दिगम्बर परमहंस साधु दिखाई दिये। तो उन्हें देख कर वह

बोला कि साधु जी ! प्रणाम, मेरे पास रूखी सूखी और बिना नोन की जौ की रोटी है मैं इसे मनसा वाचा कर्मणा आपके लिए देना चाहता हूँ। आइये और आप इसे खा लीजिये। साधु तो मन और इन्द्रियों के जीतने वाले होते हैं। सिर्फ इस शरीर से भगवद्भजन बन जावे इस विचार को लेकर इसे चलाने के लिये कुछ खुराक दिया करते हैं। जिस पर भी उनके तो आज ऐसा ही अभिग्रह भी था। अतः उन्होंने उसकी दी हुई उस रोटी को अपने हाथों में ली और खड़े खड़े ही मौनपूर्वक खा गये। इतने में औरत ने भी विचार किया कि ऐसे साधुओं के दर्शन कहाँ रखे हैं। हम लोगों का बड़ा भाग्य है ताकि हमारा रूखा-सूखा अन्न आज इनके उपयोग में आ रहा है। लड़के ने भी सोचा कि ओह ! ये तो हम लोगों से भी गरीब दीख रहे हैं।

जिनके शरीर पर बिल्कुल कपड़ा नहीं, खाने के लिये कोई पात्र नहीं, रहने को जिनका कोई घर नहीं, इनके काम में मेरी रोटी आ गई इससे भली बात और क्या होगी ? इस पर देवताओं ने भी 'अहो ! यह दान महादान है' ऐसा कहते हुए आकाश में से फूल वर्षाये तथा जय-जय कार किया, सो ठीक ही है। परमार्थ के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देना ही मनुष्य जन्म पाने का फल है अन्यथा तो फिर स्वार्थ के कीच में तो सारा संसार ही फँसा हुआ दीख रहा है।

(८१) समाधिमरण

जिसने भी जन्म पाया है, जो भी पैदा हुआ है उसे मरना अवश्य होगा, यह एक अटल नियम है। बड़े बड़े वैज्ञानिक लोग इस पर परिश्रम कर के थक लिये कि कोई भी जन्म लेता है सो तो ठीक, मगर मरता क्यों है ? मरना नहीं चाहिये। फिर भी इस में सफल हुआ हो ऐसा एक भी आदमी इस भूतल पर नहीं दिख पड़ रहा है। धन्वन्तरिजी वैष्णवों के चौबीस अवतारों में से एक अवतार माने गये हैं। कहा जाता है कि जहाँ वे खड़े हो जाते थे, वहाँ की जड़ी बूटियाँ भी पुकार पुकार कर कहने लगती थी कि मैं इस बीमारी में काम आती हूँ, मैं अमुक रोग को जड़ से उखाड़ डालती हूँ। मगर एक दिन आया कि धन्वन्तरि खुद ही इस भूतल पर से चल बसे। जड़ी बूटियाँ यहीं पड़ी रहीं और धन्वन्तरि शरीर त्याग कर चले गये, उनका औषधिज्ञान इस विषय में कुछ भी काम नहीं आया।

मुसलमानों में भी लुकमान जैसे हकीम हुए हैं जो कि चौदह पीरों में से एक पीर कहे जाते हैं। मगर मौत आकर उनका भी लुकमा कर गयी। जैसे सिंह हिरण को और बाज तीतर को धर दबाता है, वैसे ही मौत मनुष्यों को एवं सभी शरीरधारियों को हड़प लेती है। वह कब किसको अपना ग्रास बनायेगी यह निश्चित रूप से हम तुम सरीखा नहीं

जान सकता है। अनेक लोग मौत से बचने के लिए टोणा-टामण, जन्तर-मन्तर करते हैं। ताबीज बनाकर गले में बाँधते हैं। फिर भी मौत अपना दाव नहीं चूकती, समय पर आ ही दाबती है। उससे बचने के लिए शरीरधारी के पास कोई भी चारा है ही नहीं। ऐसी हालत में समझदार आदमी मौत से डर कर क्यों भागे ; और भाग कर जावे भी कहाँ, उसके लिए जगह भी कहाँ तथा कौन-सी है जहाँ कि वह उससे बच रहे ?

हाँ, तो इसका क्या यह अर्थ है कि गले में अँगुली डालकर मर जाना चाहिये ? सो नहीं, क्योंकि ऐसा करना तो नर से नारायण बना देने वाले इस मानव शरीर के साथ विद्रोह करना है, चिन्तामणि रत्न को हथोड़े की चोट से बरबाद करना है। यह पहले दर्जे की बेसमझी है। परन्तु इसको किराये की कोठरी के समान समझते हुए रहना चाहिये।

जैसे किसी को कुछ अभीप्ट करना हो और उसके पास अपना नियत स्थान न हो तो वह किसी किराये के मकान में रहकर अपने उस कार्य का साधन किया करता है। सिर्फ वहाँ पर रहकर अपना कार्य कर बताने पर दृष्टि रखता है, न कि उस मकान का मालिक ही बन बैठता है। मकान को तो मकानदार जब भी खाली करवाना चाहे करवा सकता है, यह उसे बेउजर खाली कर देने को तैयार रहता है। क्योंकि मकान उसका नहीं है। हाँ ! जब तक उसमें रहे यथाशक्य झाड़-पौंछ कर साफ-सुथरा किये रहे, यह उसकी समझदारी है।

जीवात्मा ने भी भगवान् का भजन कर अपना कल्याण करने को इस शरीर रूपी कुटिया को अपना स्थान बनाया है सो इसमें रहते हुए इसके सम्मुख अनेक तरह के भले और बुरे प्रसंग आ उपस्थित होते हैं। उनमें से बुरे को बुरा मानकर उनसे दूर भागने की चेष्टा करना और भलों को भला मानकर उसके पीछे ही लगा रहना-इस उलझन में फँस जाना ठीक नहीं। किन्तु उन दोनों तरह के प्रसंगों में तटस्थ रूप से सुप्रसन्न होकर निरन्तर परम परमात्मा का स्मरण करते रहना चाहिये। फिर यह शरीर यदि कुछ दिन टिका रहे तो ठीक और आज ही नष्ट हो जावे तो भी कोई हानि नहीं, ऐसे सुप्रसिद्ध पुरुष के लिए मौत का कोई डर नहीं रह जाता, जिस मौत का नाम सुनकर भी संसारी जीव थर-थर काँपा करते हैं।

(८२) मौत क्या चीज है ?

एक सेठ था जिसके पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से ऐहिक सुख की सब तरह की साधन-सामग्री मौजूद थी। अतः उसे यह भी पता नहीं था कि कष्ट क्या चीज होती है ? उसका प्रत्येक क्षण अमन चैन से बीत रहा था। अब एक रोज उसके पड़ौसी के यहाँ पुत्र

जन्म की खुशी में गीत गाये जाने लगे जो कि बड़े ही सुहावने थे, जिन्हें सुनकर उस सेठ का दिल भी बड़ा खुश हुआ। परन्तु संयोगवश थोड़ी देर बाद ही में वह बच्चा मर भी गया तो वहाँ गाने के स्थान पर छाती और मुँह कूट-कूट कर रोया जाने लगा। जिसे सुन कर सेठ के मन में आश्चर्य हुआ। अतः उसने अपनी माता से पूछा कि मैया यह क्या बात है ? थोड़ी देर पहिले जो गाना-गाया जा रहा था वह तो बहुत ही सुरीली आवाज में था मगर अब जो गाना गाया जा रहा है वह तो सुनने में बुरा प्रतीत हो रहा है !

माता ने कहा, बेटा ! यह गाना नहीं किन्तु रोना है। थोड़ी देर पहिले जिस बच्चे के जन्म की खुशी में गीत गाये जा रहे थे वही बच्चा अब मर गया है जिसे देखकर उसके घर वाले अब रो रहे हैं। सेठ दौड़ा और जहाँ वह बच्चा मरा हुआ पड़ा था तथा लोग रो रहे थे, वहाँ गया। उसने उस मरे हुए बालक को देखा और खूब गौर से देखा। देखकर यह बोला कि क्या मरा है ? इसका मुँह, कान, नाक, हाथ, आँखें और पैर आदि सभी तो ज्यों के त्यों हैं, फिर आप लोग रो क्यों रहे हैं ? तब उन रोने वालों में से एक आदमी कहने लगा कि सेठ साहब आप समझते नहीं हो, तुमने दुनियाँ देखी नहीं है इसीलिये ऐसा कहते हो। देखो अपने लोगों का पेट कभी ऊँचा होता है और कभी नीचा लेकिन इसका नहीं हो रहा है। अपनी छाती धड़क रही है परन्तु इसी छाती में धड़कन बिल्कुल नहीं है। मतलब कि हम लोगों के इन जिन्दा शरीरों में एक प्रकार की शक्ति है जिससे कि जीवन के सब कार्य सम्पन्न होते हैं जिसका कि नाम है आत्मा। वह आत्मा इसके शरीर में नहीं रही अतः यह मुर्दा यानी बेकार हो गया है। हम लोगों के शरीरों में से वह निकल जाने वाली है सो किसी की दो दिन पहिले और किसी की दो दिन पीछे अवश्य निकल जावेगी एवं हमारे ये शरीर इसी प्रकार मुर्दा बन जावेंगे, मौत पा जावेंगे।

आत्मा जिसका कि वर्णन ऊपर आ चुका है जिसके कि रहने पर शरीर जिन्दा और न रहने पर मुर्दा बन जाता है, वह आत्मा अपने मूल रूप से शाश्वत है, कभी भी नष्ट नहीं होने वाली है। और अमूर्तिक है उसमें न तो किसी भी प्रकार का काला, पीला आदि रूप है न खट्टा, मीठा, चरपरा आदि कोई रस है। न हलका, भारी, रूखा, चिकना, ठण्डा, गरम और कड़ा या नरम ही है। न खुशबूदार या बदबूदार ही है। हाँ सिर्फ चेतनावान् है, हरेक चीज के गुण दोषों पर निगाह करने वाला है। जिसमें अवगुण समझता है उससे दूर रह कर गुणवान् के पीछे लगे रहना चाहता है। यह इसकी अनादि की टेव है जिसकी वजह से नाना तरह की चेष्टाएँ करने लग रहा है। उन चेष्टाओं का नाम ही कर्म है। उन कर्मों की वजह से ही शरीर से शरीरान्तर धारण करता हुआ चला आ रहा है, इसी का नाम संसार चक्र है।

संसार चक्र परिभ्रमण करता हुआ आत्मा इतर जीवात्मा को कष्ट देने वाला बनकर नरक में जन्म लेता है तो वहाँ स्वयं अनेक प्रकार के घोर कष्ट सहन करता है। अपने ऐश-आराम की सोचते रहकर छल वृत्ति करने वाला पशु या पक्षी बनता है तो वहां अपने से अधिक बलशाली अन्य प्राणियों द्वारा छल पूर्वक कष्ट उठाता है। हाँ, अगर औरों के भले की सोचता है तो उसके फलस्वरूप स्वर्ग में जन्म लेकर सुख साता का अनुभव करने वाला बनता है। परन्तु सन्तोष भाव से अपना समय बिताने वाला मानव बनता है। इस मानव जन्म में अपने आपके उद्धार का मार्ग यदि वह चाहे तो ढूँढ निकाल सकता है। लेकिन अधिकांश जीवात्मा तो मानव जन्म पाकर भी मोह माया में ही फँसे रहते हैं। इस शरीर के सम्बन्धियों को अपना सम्बन्धी मानकर उनमें मेरा-मेरा करने वाला और बाकी के दूसरों को पराये मान कर उनसे नफरत करने वाला होकर रहता है ।

कोई बिरला ही जीव ऐसा होता है जो कि शरीर से भी अपने आप (आत्मा) को भिन्न मानता है एवं जब कि आप इस शरीर से तथा इतर सब पदार्थों से भी भिन्न है। ऐसी हालत में पराये गुण दोषों पर लुभाने से क्या हानि-लाभ होने वाला है। पराये गुण दोष पर में होते हैं उनसे इसका क्या सुधार बिगाड़ हो सकता है ? क्यों व्यर्थ ही उनके बारे में संकल्प विकल्प करके अपने उपयोग को भी दूषित बनावे ? तटस्थ हो रहता है। उसके लिये फिर इस संसार में न कोई भी सम्पत्ति ही होती है और न कोई विपत्ति ही, वह तो सहज तथा सच्चिदानन्द भाव को प्राप्त हो रहता है।

समता के द्वारा ममता को मिटा डालता है। क्षमा से क्रोध का अभाव कर देता है। विनीत वृत्ति के द्वारा मान का मूलोच्छेद कर फैंकता है। अपने तन,मन और वचन में प्राप्त किये हुए सरल भाव से कपट को पास में भी नहीं आने देता और निरीहता के द्वारा लोभ पर विजय पा जाता है। इस प्रकार कर्मजयी बन कर आत्मा से परमात्मा हो लेता है फिर सूखे हुये घाव पर खरूँट की भाँति उसका यह शरीर भी अपने समय पर उससे अपने आप दूर हो जाता है। आगे के लिये फिर कभी शरीर धारण नहीं करना पड़ता।

।। ॐ शान्ति ।।

यही एक कर्तव्य है सुखी बने सब लोग।
रोग शोक दुर्भोग का कभी न होवे योग।।
यही एक कर्त्तव्य है कहीं न हो संत्रास।
किसी जीव के चित्त में, सब लें सुख की साँस।।
यही एक कर्त्तव्य है कभी न हो दुष्काल।
भूप और अनुरूप भी सभी रहें खुशहाल।।

इति शुभं भूयात् !

अनिल मुद्रणालय, १५२१, नेपियर टाऊन, जबलपुर

पत्र व्यवहार व थोक बिक्री के लिए सम्पर्क का पता :-

श्रीकृष्ण जैन, फोन (घर) 7073937

एल० यू० - ६५, विशाखा एन्कलेव, पीतम पुरा, देहली - ११००३४

हमारे प्रमुख विक्रेता -

राजस्थान

१. श्री वीर पुस्तक मन्दिर , श्री महावीर जी (राज.) - ३२२२२०
२. श्री पवन कुमार जैन, कृष्णा बाई आश्रम, श्री महावीर जी (राज.)
३. दुलीचन्द जैन, दुकान नं० ३, देहरा-तिजारा (अलवर) - ३०१४११
४. श्री टाया जैन छात्र वृत्ति फण्ड ट्रस्ट, टायाभवन, ५० अशोक नगर, उदयपुर (राज.) - ३१३००२

मध्य प्रदेश - बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र- उत्तर प्रदेश

१. निर्मल कुमार जैन, जैन फोटो फ्रेमिंग हाऊस, इतवारा बाजार, सागर (म.प्र.)
२. पं० ज्ञान चन्द जैन, मन्दिर नं० १३ सोनागिर (दतिया) - ४७५६६६
३. शीतल चन्द जैन, २० शीतला माता रोड, इन्दौर (म.प्र.)
४. श्री दिगम्बर जैन विराग विद्या पीठ, बतासा बाजार, भिण्ड (म.प्र.)-१
५. कोमल चन्द जैन, पुस्तक विक्रेता, कुण्डलपर दमोह (म.प्र.) - ४७०७७३
६. पं. मोहन लाल जैन, जवाहर गंज, जबलपुर (म.प्र.) - ४८२००२
७. जैन मूर्ति स्टोर, तेरा पंथी कोठी, शिखर जी (गिरिडीह) - ८२५३२६
८. पवन कुमार जैन, तेरा पंथी कोठी, शिखर जी (गिरिडीह)-८२५३२६
९. अरिहंत साहित्य सदन, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, रेनबो विहार, मेरठ रोड़, मुजफ्फर नगर (उ०प्र०) - १५१-००२
१०. दिगम्बर जैन पुस्तकालय, गांधी चौक, सूरत (गुजरात)
११. श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन पुस्तकालय, १६१, भूलेश्वर, बम्बई ४००००२

देहली

१. जैन साहित्य सदन, श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, चांदनी चौक, देहली-६
२. श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, (बर्फ खाने के पीछे), सब्जी मण्डी देहली-११०००७
३. पदम प्रसाद जैन, सुप्रीम हौजरी इन्डस्ट्रीज, १२६६ फयाज गंज, बहादुर गढ़ रोड, सदर बाजार, देहली - ११०००६

डाक द्वारा मंगाने का पता -

१. चक्रेश कुमार जैन, बुकसैलर, श्रीमहावीरजी (राज.)-३२२२२०

छपे मूल्य से अधिक लेना व देना नैतिक अपराध है।